मध्य कालीन भारत

मुस्लिम काल

(१००१ से १५२६ ईस्वी तक)

मूल लेखक
श्रीनिवासाचारी
तथा
रामस्वामी अयंगर

अनुवादक
गोरखनाथ चौबे एम० ए०
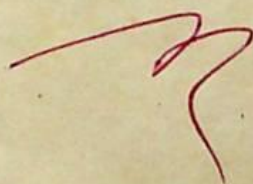
भारतवर्ष का इतिहास

मध्य कालीन भारत

(मुस्लिम काल)

१००१ से १५२६ ईस्वी तक

मूल लेखक

सी० एस० श्रीनिवासाचारी एम० ए०

तथा

एम० एस० रामस्वामी अयंगर एम० ए०

सम्पादक

गोरखनाथ चौबे एम० ए०

रजिस्ट्रार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
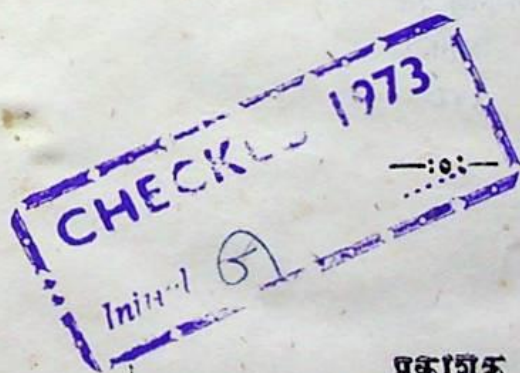
प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

१९५१

मूल्य ३॥)

मुद्रक—
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग
३४६

प्रकाशक का वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमान् सी० एस० श्री निवासाचारी तथा एम० एस० राम स्वामी अयंगर की लिखी हुई पुस्तक History of India Part II का हिन्दी अनुवाद है जो सन् १९३७ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में अंग्रेजी पुस्तक का पृष्ठ १ से लेकर १९० तक अनुवाद है।

इस पुस्तक का अनुवाद श्री नरोत्तम नागर एम० ए० ने किया है तथा श्री गोरखनाथ चौबे ने अनुवाद का संशोधन किया है।

प्रकाशक मूल लेखकों के अत्यन्त अभारी हैं।

प्रकाशक

भूमिका

मध्य कालीन भारत भारतीय इतिहास का वह युग है जिसमें दो बड़ी संस्कृतियों का मिलन हुआ और जिसका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसे कमज़ोर पाये पर खड़ा किया गया जो कुछ ही शताब्दी बाद टेढ़ा और अन्त में टुकड़े-टुकड़े हो गया। इसी बेमेल जोड़ का परिणाम है जो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ऐसे दो टुकड़े किये गये। जिस देश की जलवायु और उपज से हिन्दू, मुसलमान और मालूम नहीं कितनी अन्य जातियों ने अपने अस्तित्व को ऊँचा किया; जहाँ कुछ बादशाहों के समय में दोनों भाई-भाई की तरह, मिलकर रहे; वहीं कटुता के कुछ ऐसे भी बीज छिपे हुये थे जो अवसर पाते ही बड़े वृक्ष के रूप में दिखाई पड़ने लगे। लगभग १५० वर्षों की गुलामी को हिन्दू और मुसलमान सब ने झेला—खुशी खुशी नहीं, बल्कि झेलना पड़ा। स्वतन्त्रता की दुंदुभी बजते ही आपसी मन-मुटाव चरम सीमा को पार कर गया। अन्त में विवश होकर देश का बटवारा करना पड़ा, जिसके लाभ-हानि का प्रश्न भविष्य पर निर्भर है। इस मनोमालिन्य का उद्गम स्थान वही मध्य कालीन युग है जिसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

लेखकों ने प्रस्तुत पुस्तक में सांस्कृतिक विकास को इतनी अच्छाई के साथ वर्णन किया है कि इतिहास का वास्तविक उद्देश्य हल हो जाता है। घटना क्रम और तिथियों की अनुक्रमणिका का नाम इतिहास नहीं है। किसी घटना विशेष को तोड़-मरोड़ कर किसी ऐसे परिणाम पर पहुँचाना जिससे सामाजिक वातावरण में कटुता और विषमता की भावना फैले ऐतिहासिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इतिहास सामाजिक विकास का वह साधन है जिसके द्वारा विभिन्न सम्प्रदाय और समुदाय आपस में प्रेम और सहानुभूति-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का आश्रय लेते हैं। यदि मध्य कालीन भारत का

इतिहास इस दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाय तो इससे भविष्य निर्माण में अच्छी सहायता प्राप्त होगी। साथ ही हमें अपनी पिछली भूलों का भी अनुभव होगा जिनसे आने वाली सन्तान को शिक्षा मिलेगी।

जिस श्रम और खोज पूर्ण प्रवृत्ति से लेखकों ने पुस्तक को समाप्त किया है वह साधारण लेखक नहीं कर सकता। एक घटना का प्रभाव दूसरी घटनाओं पर कितना अधिक और किस रूप में पड़ता है इसका भी लेखकों ने ध्यान रक्खा है। मध्य कालीन शासकों की वाह्य क्रियाशीलता के साथ उनकी सांस्कृतिक कृतियों का भी वर्णन किया गया है। पुस्तक में एक ओर युद्ध, विजय, साम्राज्य स्थापना और सन्धियों का उल्लेख है तो दूसरी ओर स्तम्भ निर्माण, सांस्कृतिक आन्दोलन, लोक-सेवा-कार्य तथा सामाजिक उन्नति की नवीन योजनाओं का भी वर्णन है। पुस्तक का पठन-पाठन, भारतीय समाज की आधुनिक समस्याओं को सुलझाने में बहुत कुछ सहायक होगा।

पुस्तक का अनुवाद इतनी उपयुक्त एवं पुष्ट भाषा में करने का श्रेय हमारे मित्र श्री नरोतम नागर एम० ए० को है।

राम भवन
प्रयाग
१५-२-४६

—गोरखनाथ चौबे

विषय-सूची

मध्य कालीन भारत

पहला परिच्छेद

भारत पर मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमण

सिंध पर अरबों का आधिपत्य

भारत पर सब से पहले जिन मुसलमानों ने आक्रमण किया, वे अरब थे। सातवीं शती के प्रथमार्द्ध में अरब एकाएक प्रकाश में आए और उनका नाम सुनाई पड़ने लगा। उन दिनों भारत में हर्षवर्धन राज कर रहा था। मुसलमानों के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद ने अरबों के धर्म को बुराइयों और दोषों से मुक्त कर विश्व के निर्माता एक सच्चे ईश्वर—अल्लाह—की उपासना का प्रचार किया। अरबों के बीच वह ईश्वर के दूत—पैगम्बर—के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस धर्म का उन्होंने प्रचार किया, उसका नाम इसलाम पड़ा।

मुहम्मद से पहले अरब अनेक दलों और फिरकों में बटे हुए थे। ये दल और फिरके आपस में संघर्ष करते रहते थे। मूर्तिपूजा और ग्रहों के अंध-विश्वास की दलदल में वे फंसे हुए थे। उनके बीच कुछ यहूदी और ईसाई भी आकर बस गए थे। उनके प्रभाव से अरबों ने यह सीखा कि सच्चा खुदा एक ही है और शेष सब कुछ उसके आधीन है।

मुहम्मद साहब प्रारम्भ से ही गम्भीर स्वभाव के थे। उन्होंने अनुभव किया कि एक सच्चे खुदा की उपासना का शुभ कार्य उन्हें अपने हाथों में लेना चाहिए। सार्वजनिक रूप से उन्होंने अपने इस इरादे की घोषणा की और पूरे दस वर्ष तक मक्का के निवासियों से अपमानित, लांछित और पीड़ित होने पर भी अपना प्रचार-कार्य बन्द नहीं किया।

मक्का के निवासियों को अपने काबा पर गर्व था। काबा में प्रतिष्ठित काले पत्थर को वह ईश्वर-प्रदत्त--स्वर्ग से गिरा हुआ—समझते थे। समूचे अरब से लोग काबा की तीर्थयात्रा करने आते थे। मुहम्मद साहब ने इसी स्थान को अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। लेकिन जब उनका विरोध अत्यधिक बढ़ा तो वह काबा से यात्रा कर मदीना चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी शक्ति संगठित की और विरोधियों की हिंसा का जवाब हिंसा से देने का निश्चय किया। अब मुहम्मद साहब निरे उपदेशक ही नहीं रह गए, वरन् वह दृढ़ सैनिक—योद्धा—भी हो गए। उन्होंने तलवार की नोक के बल पर अपने धर्म के प्रचार का निश्चय किया।

६२२-२३ ईसवी में मुहम्मद साहब ने मदीना की हिजरत की थी। तभी से उनके संवत् का प्रारम्भ होता है। इस संवत् की गणना चाँद की गति पर निर्भर करती है और प्रायः सभी मुसलमान राज्यों ने—उन मुसलमान शासकों ने भी जो भारत पर शासन करते थे—इस संवत् को स्वीकार कर लिया।*

हिजरत से मुहम्मद साहब के जीवन और उनके जीवन के उद्देश्य—सन्देश—का एक नया दौर आरम्भ होता है। इससे पहले तक वह एक प्रचारक और शिक्षक थे। लेकिन इसके बाद वह "एक राज्य के शासक हो गए। वह राज्य पहले बहुत छोटा था, लेकिन वर्षों के भीतर बढ़कर अरब का साम्राज्य बन गया।"†

हिजरत के पश्चात् अपने दो योग्य सहायकों—अबूबकर और उमर—की सहायता से मुहम्मद साहब ने एक कठोर प्रचारक का

---

*सभी मुसलमानों द्वारा एक ही संवत् के प्रयोग से बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि जहाँ भी मुसलमानों का आधिपत्य था, वहाँ काल-गणना की एक ही प्रणाली होने से तिथियों के क्रम में वह गड़बड़ नहीं दिखाई देती जो भिन्न संवतों का प्रयोग करने वाले हिन्दू अभिलेखों और ग्रंथों की तिथियों में पाई जाती है—कारण कि उन सब के वर्ष और महीनों की अवधि एक समान नहीं होती।—जे एन. सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३२।

† मारमदुक पिकथाल लिखित, दि ग्लोरियस कुरान, ऐन एक्सप्लेनेटरी ट्रान्सलेशन (१-३०) पृष्ठ ६।

बाना धारण किया। उन्होंने घोषित किया कि खुदा ने उन्हें अपना सच्चा पैगम्बर बना कर भेजा है ताकि वह सच्चे धर्म का प्रचार कर सकें। मदीना में उन्होंने अपनी पहली मसजिद का निर्माण किया। प्रतिदिन पाँच बार नमाज़ पढ़ने का आदेश दिया। नमाज की पद्धति आदि भी उन्होंने निर्धारित कर दी। प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज़ का विधि-विधान बनाया। सामूहिक नमाज़ के बाद वह उपदेश देते। प्रति वर्ष रमज़ान के दिनों में रोज़ा और अज़ान की पद्धति निर्धारित की जिसके अनुसार हर सच्चे मुसलमान को कड़ाई के साथ दिन-भर व्रत रखना होता था।

६२४ ईसवी में उन्होंने बद्र के महत्वपूर्ण युद्ध में मक्का के निवासियों को परास्त किया। मक्का-निवासियों की पराजय को उन्होंने खुदा की देन घोषित करते हुए कहा कि खुदा नये मजहब के पक्ष में है इसीलिए उसने मक्का-निवासियों की पराजय होने दी। इस विजय से अरब में मुहम्मद साहब का प्रभाव और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

कुछ ही वर्षों में अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर मुहम्मद साहब ने शाही सत्ता और गौरव प्राप्त कर लिया। उनकी मृत्यु से पहले—६३२ ईसवी—तक समूचा अरब उनके अधिकार और प्रभाव में आ गया था।

हिजरत संवत् का नवाँ वर्ष 'समर्पण का वर्ष' कहलाता है, कारण कि इस वर्ष अरब के सभी भागों से विभिन्न फिरकों के प्रतिनिधि पैगम्बर के प्रति अपनी वफादारी दिखाने और कुरान का पाठ सुनने के लिए मदीना आए। इस प्रकार पैगम्बर अरब साम्राज्य के शासक हो गए। लेकिन उनका जीवन अब भी पहले की तरह ही सादा था।

मुहम्मद साहब सुधारक और विजेता दोनों थे। जनता का नैतिक धरातल उन्होंने ऊँचा उठाया था। विभिन्न फिरकों को प्रतिशोध और बदला की भावना से मुक्त कर उनके खान्दानी संघर्षों को उन्होंने खत्म कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने न्याय की भावना का प्रचार किया और विशृंखल फिरकों के स्थान पर एक संगठित राष्ट्र का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। अपने नये

मज़हब के द्वारा उन्होंने अरब की जनता को एक सामूहिक आधार प्रदान किया और बंधुत्व—बिरादरी—के एक ऐसे सूत्र में उन्हें बांध दिया जो राज्य-सत्ता से भी अधिक टिकाऊ था।

अपने नये धर्म के आधार पर उन्होंने राज्य की नीव डाली जिसकी राजधानी जनता का धार्मिक केन्द्र बन गई। उस समय जब कि अरब ह्रासोन्मुखी अंधविश्वासों की दलदल में फंसे हुए थे मुहम्मद साहब ने उनमें सत्य और प्रेम की एक सर्वोपरि सत्ता—खुदा—में विश्वास करना सिखाया। उस समय जबकि वे विशृंखल थे, एक-दूसरे से कभी समाप्त न होने वाली लड़ाइयां लड़ते थे, मुहम्मद साहब ने उन्हें भाईचारे और उदारता के सूत्र में बांध कर एक कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने देवदूत का काम किया—"लगता था जैसे दैवीशक्ति समूचे अरब देश पर छा गई हो।" *

एक महान् पश्चिमी विद्वान् के शब्दों में—"उन दिनों को छोड़ कर जब ईसाई धर्म ने, अपने आदिम रूप में, विश्व की नींद को भंग कर चकित कर दिया था और मूर्ति-पूजकों तथा उनके अंधविश्वासों से अपनी जान पर खेल कर लोहा लिया था, मानवी आत्मा का वैसा जागरण अगर फिर कभी दिखाई पड़ा है तो मुहम्मद साहब के समय में—उन्होंने भी अपने धर्म के लिए, आत्मा के लिए, वैसे ही कष्टों को झेला और बलिदानों को स्वीकार किया।'

मूर्तिपूजा का अन्त हो गया। जो नये धर्म को स्वीकार करते थे, उन्हें दैवी आदेशों का कड़ाई के साथ पालन करना पड़ता था। लेकिन इनका यह अर्थ नहीं कि सभी बुराइयों का अन्त हो गया था। बहुविवाह, तलाक और दास-प्रथा अभी जायज थीं और विचारों की स्वतंत्रता तथा निजी न्याय-बुद्धि के प्रयोग को उत्साहित नहीं किया जाता था।†

---

* देखिए अमीर अली कृत 'दि स्पिरिट आफ इसलाम' (१६०२), पृ० १०२—६

† देखिए मुइर-लिखित 'दि लाइफ आफ मुहम्मद, परिच्छेद ३७, पृष्ठ ५२२-२३।

पैगम्बर के बाद जो उत्तराधिकारी हुए, उनके काल में अरबों और इसलाम की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई। मुहम्मद साहब के विश्वसनीय सहायक अबू बकर ने खलीफा का—मोहम्मद साहब के बाद इनके प्रतिनिधि का—स्थान ग्रहण किया। अबू बकर के बाद उमर खलीफा बना। ६४४ ईसवी तक, जब उमर की मृत्यु हुई, समूचा फारस—पूर्व में हिरात तक—अरबों ने अपने आधिपत्य में कर लिया था। इसके बाद, ६५० ईसवी तक, अरबों की शक्ति का विस्तार हिन्दू कुश के पद तल तक पहुँच गया था। पश्चिम में प्राचीन रोमन सम्राटों के उत्तराधिकारियों के हाथों से अरबों ने सीरिया को छीन लिया था। मिश्र और अतलान्त सागर के तट तक उत्तरी अफरीका पर भी उनका अधिकार हो गया था।

इस प्रकार, मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद एक शती के भीतर, पूर्व और पश्चिम में समान रूप से मुसलमानों की विजय का विस्तार हुआ था। रोम और फारस के ह्रासोन्मुखी साम्राज्यों को उन्होंने घुटने टेकने के लिए बाध्य कर दिया था और यक्सार्त (Iaxartes) का तट तथा अतलान्त सागर का किनारा दोनों अल्लाह-ओ-अकबर की ध्वनि से गूँज उठे थे।

काबुल और सिंध की घाटी में प्रवेश

अरब साम्राज्य की उत्तरी सीमा का तेज़ी के साथ विस्तार हुआ और वह हिन्दू कुश के उस पार आक्सस तक पहुँच गई। इसके बाद शीघ्र ही अरबों ने अफगान और बलूचियों के निवास स्थान सुलेमान और मकरान के पहाड़ी इलाकों पर आक्रमण किया, और काबुल पर अधिकार कर लिया (लगभग ६६२ ईसवी)। उस समय काबुल पर फारस का एक राजा शासन करता था।

काबुल पर अधिकार करने के बाद से, लाहौर और मुलतान के निकटवर्ती प्रदेश पर, अरबों के बहुधा धावे होने लगे लेकिन, किसी भी प्रदेश पर स्थायी रूप से वे अपना आधिपत्य नहीं जमा सके। यह उस समय सम्भव हुआ जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर ली। इससे पहले, सातवीं शती के उत्तरार्ध में, अरबों ने समुद्र के रास्ते अनेक बार सिंध पर धावे किये थे। लेकिन ये धावे, सम्भवतः, लूट-मार के इरादे से किये गए थे,

आधिपत्य जमाने के के इरादे से नहीं। इस तरह के धावों का प्रारम्भ खलीफा उमर (६३६ ईसवी) के काल से हुआ था जिसका अन्त मुहम्मद बिन कासिम के समय में हुआ, जब कि उसने सिंध पर विजय प्राप्त कर ली।

खलीफा उमर के काल में, समुद्र के रास्ते, बम्बई के निकट थानक और भड़ौंच पर अरबों ने धावा किया था। उस समय सिंध पर एक हिन्दू राजा राज्य करता था जिसे मुसलमानों ने दाहिर कहा है। बाखर के निकट आलोर उसकी राजधानी थी और समूचे प्रदेश पर—उत्तर में मुलतान तक—उसका राज्य फैला हुआ था।

सिंध पर आधिपत्य

मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध की घाटी पर फारस के दक्षिण से आक्रमण किया। पहले उसने देबल नामक बन्दरगाह पर आक्रमण करके उस पर अधिकार किया। इसके बाद नदी के चढ़ाव की ओर आगे बढ़ कर भीतरी प्रदेशों में प्रवेश किया। मार्ग में पड़ने वाले कस्बों—जैसे नेरून (आज के हैदराबाद के निकट) और सेहवान आदि*—पर वह अधिकार करता गया। आलोर के निकट उसने दाहिर को पराजित किया और फिर आक्रमण कर आलोर पर भी अधिकार कर लिया।

आलोर में स्थित राजपूत सेना ने जब देखा कि इन आक्रमणों से लोहा लेना अब उसके लिए सम्भव नहीं है तो उन्होंने चिताएँ तैयार कर अपनी स्त्रियों और बच्चों को अग्नि के सुपुर्द कर दिया और इसके बाद शत्रु पर टूट पड़े। इस मुठभेड़ में राजपूत सेना का एक भी व्यक्ति नहीं बचा, सभी मारे गए।

मुसलमान लेखकों की कृतियों से पता चलता है कि मुहम्मद बिन कासिम ने उस काल के सुप्रसिद्ध भारतीय नगर कन्नौज पर भी आक्रमण करने की योजना बनाई थी, लेकिन इस योजना के कार्यान्वित होने से पहले ही, खलीफा के आदेशानुसार, वह मौत के

---

* एम० आर०-हेग ने अपनी पुस्तक दि इन्दस डेल्टा कन्ट्री (१८९४) पृष्ठ ४२ पर इन कस्बों की स्थिति पर अधिकार पूर्ण रूप से प्रकाश डाला है।

घाट उतार दिया गया, और उसकी मृत्यु के साथ-साथ अरबों की विजय-यात्रा का भी अन्त हो गया।

कासिम के बाद उसके उत्तराधिकारी गवर्नर ने उज्जयिनी तथा अन्य नगरों पर धावे किए। अरब के ऐतिहास-लेखकों ने गुजरात पर होनेवाले एक अन्य आक्रमण का भी उल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि अरबों के अनेक आक्रमणों के फलस्वरूप वलभी नष्ट हो गई थी। जो भी हो, अरबों की सफलताओं का क्षेत्र बहुत सीमित रहा और कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों ने सफलतापूर्वक अरबों के आक्रमणों से लोहा लिया और बराबर, पूरी नवीं शती तक, लोहा लेते रहे। गुर्जरों का अरब-द्वेष—अरबों से उनकी शत्रुता—शीघ्र ही प्रचारित हो गई। लेकिन उनके प्रतिद्वन्द्वी, दकन के राष्ट्रकूट, जिन्हें अरब बाल्हर कहते थे, उनके मित्र बन गए और अरबों को अपने यहाँ बसने और व्यापार करने की सुविधाएँ प्रदान कीं।

(२)

आधिपत्य का प्रभाव

लगभग एक शती तक अरबों का—उनके खलीफाओं का—इस देश पर प्रभाव रहा। लेकिन ये खलीफा अपने गवर्नरों को कोई विशेष सहायता नहीं देते थे। नवीं शती के प्रारम्भ में अरब कच्छ से बहिष्कृत कर दिए गए। सिंध में बसे हुए अरबों ने मुलतान और मनसूरिया में (नदी के निचले प्रदेश में स्थित) अपने राज्य स्थापित कर लिए थे। इनके अतिरिक्त मकरान के निकटवर्ती इलाके में छोटे-मोटे सरदारों ने अपनी जड़ें जमा ली थीं। बम्बई के समुद्रतट पर स्थित बन्दरगाहों से अरबों का व्यापार सम्पन्न अवस्था में पहुँच गया था। राष्ट्रकूटों के संरक्षण और प्रोत्साहन में उनका व्यापार फूला-फला था। अरब और देशी रक्तमिश्रित—वर्णसङ्कर—करमाथियन मुनकिर सिंध की घाटी में पनप रहे थे। उनका ज़ोर यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने, ९८५ ईसवी में, मुलतान और मनसूरिया के राज्यों को नष्ट कर दिया। इस प्रदेश से १०२४ ईसवी में, महमूद गज़नी ने उन्हें अन्तिम रूप से निकाल बाहर करने में सफलता प्राप्त की। *

---

* अरबों के साथ मित्र-भाव दिखाने का क्या नतीजा होगा, राष्ट्रकूट यह

शासन की विशेषताएँ

अरब-इतिहास-लेखकों के ग्रंथों और विवरणों से पता चलता है कि उनके आधिपत्य से पहले सिंध में जो हिन्दू राजा शासन कर रहे थे, वे कैसे थे और जब उनका—अर्थात् अरबों का—शासन स्थापित हो गया तो उससे सिंध की जनता के जीवन में क्या और कैसा परिवर्तन हुआ। विजितों के प्रति अरबों का व्यवहार मिश्रित ढंग का था—उसमें क्रूरता भी थी और नर्मी भी। जो नगर अरबों के आधिपत्य के विरुद्ध सिर उठाने का साहस करते थे, उन्हें निर्दयता के साथ कुचल दिया जाता था। लेकिन सौदागरों और कारीगरों को, साधारणतया, अपने दमन का शिकार वे नहीं बनाते थे और उनके साथ रियायत से पेश आते थे। साधारण जनता को भी, एक बार जब वह नज़राना देना स्वीकार कर लेती थी, वे सभी सुविधाएँ लौटा दी जाती थीं जिनका वह पहले से उपयोग करती आ रही थी। अरबों का प्रभुत्व स्वीकार करने के बाद जनता को नागरिक आजादी का उपयोग करने का अधिकार मिल जाता था। इसमें अपने धर्म का स्वतंत्र और निर्बाध पालन भी सम्मिलित था।

अरब शासक स्वभावतः कुछ दायित्व-हीन, दम्भी और यहाँ की स्थिति से अनभिज्ञ थे। फलतः शासन का अधिकांश भार उन्होंने देशी अधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया था। भूमि के काफी बड़े-

---

पूरी तरह से नहीं देख और समझ सके। उनका मित्र-भाव यहाँ तक बढ़ गया था कि एक बार वे कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों के विरुद्ध—जिन्होंने नवीं शती में अरब आक्रमणों से डट कर लोहा लिया था—इस्लामिक शक्तियों की पांत में जा खड़े हुए थे। सौदागर सुलेमान (लगभग ८५० ईसवी) और मसऊदी (लगभग-९५६ ईसवी) ऐसे अरब-लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है। (देखिए इलियट और डासन लिखित 'हिस्ट्री आफ़ इन्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स', खंड १ (१८६७) पृष्ठ ४; २१ आदि—और आर० सी० मजूमदार लिखित गुर्जर-प्रतिहार शीर्षक लेख जो जर्नल आफ दि डिपार्टमेन्ट आफ लैटर्स (कलकत्ता विश्व विद्यालय खंड दस में छपा है;—एच०सी०राय कृत डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नारदर्न इन्डिया, खंड १, परिच्छेद १—आर०सी० मजूमदार कृत 'दि अरब इनवेज़न आफ इन्डिया।'

बड़े हिस्सों पर अरब सैनिकों ने अपना अधिकार जमा लिया था। आमदनी का प्रमुख ज़रिया भूमिकर और जज़िया था जिसका सारा बोझ गैर मुसलमानों के सिर पर आ पड़ा था। भूमिकर और जज़िया की वसूली के लिए काफी सख्ती की जाती थी और अपमानजनक उपायों को काम में लाया जाता था। यद्यपि सहनशीलता की मात्रा भी बढ़ रही थी, फिर भी कस्बों में काफी सख्ती अंधेरगर्दी की घटनाएँ हो जाती थीं। कारखाने दारों और कारीगरों से चुँगी आयात-निर्यात कर तथा अन्य कई रूप में रुपये वसूल किये जाते थे। सार्वजनिक और राजनीतिक अपराधों के विषय में हिन्दू-मुसलमान का भेदभाव नहीं किया जाता था। कानून समान रूप से दोनों को दण्डित करता था। लेकिन ऋण, ठीके, पर-स्त्री के साथ व्यभिचार, उत्तराधिकार आदि के झगड़े हिन्दू, अपनी पंचायतों में या पंचों की अदालत में, तय करते थे।*

अस्थायित्व के कारण

अरबों के विभिन्न फिरकों ने मिल कर सिंध की घाटी पर विजय प्राप्त की थी। इन फिरकों के अपने अलग-अलग स्वार्थ और हित थे। इनमें बहुधा संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती थी। इन स्वार्थों और संघर्षों के फलस्वरूप अरब संगठित होकर अधिक दिनों तक हिन्दुओं के विरुद्ध खड़े नहीं रह सके। उनके मोर्चे में दरारें पड़ने लगीं। शिया तथा अन्य स्वतंत्र मतावलम्बी दलों के दमन के फलस्वरूप अरबों को संगठित शक्ति और भी विशृङ्खल हो गई। मकरान और सिंध की घाटी में इन लोगों का—शिया और मकार्थियनों का—ज़ोर बहुत बढ़ गया था। अरब बहुधा नगरों और सैनिक शिवरों में रहते थे। कुछ फिरके, जो आज बलूची नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हीं प्रारम्भिक अरबों के उत्तराधिकारी हैं जो सिंध की घाटी में आकर बस गए थे। इस देश की मिट्टी पर अरब कोई विशेष चिन्ह नहीं छोड़ सके। यहाँ की भाषा, कला,

* देखिए ईश्वरीप्रसाद कृत हिस्ट्री ऑफ मेडीविअल इंडिया फ्राम ६४७ ईसवी टू दि मुगल कान्केस्ट (१६२५) पृष्ठ ४६-७, ईलियर और डासन लिखित हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड १ का परिशिष्ट, सिंध अन्डर दि अरब, पृष्ठ ४६० भी देखिए।

आचार और विचारों में उनके शासन का बहुत कम प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु व्यापार को बढ़ाने में उन्होंने काफी योग दिया था। सिंध का, बाहर की समूची मुस्लिम दुनिया से, आदान-प्रदान और सम्पर्क स्थापित हो गया था—विशेष रूप से कंधार और खुरासान से। अरब से सिंध में घोड़े आते थे और नावों के लिये शहतीर मलाबार से मंगाये जाते थे। तट पर अनेक बन्दरगाह कायम हो गये थे।

कुछ साधारण निष्कर्ष

भारत और इसलाम के इतिहास में अरबों की विजय केवल एक घटना का स्थान रखती है। दूसरे शब्दों में अरबों की इस विजय को हम प्रभावहीन सफलता कह सकते हैं—ऐसी सफलता जो अपना कोई असर नहीं छोड़ सकी। विजित प्रदेश न तो उपजाऊ थे, न वहाँ घर बना कर रहा जा सकता था। और इस अन-उपजाऊ प्रदेश से आगे की भूमि पर शक्तिशाली राजपूतों का अधिकार था जो न टूटने वाली लोहे की दीवार बन गए थे। फलतः "एक राजनीतिक शक्ति के रूप में अथवा धार्मिक प्रचार की दृष्टि से अरबों की इस विजय का कोई विशेष महत्व नहीं रहा।" लेकिन अरबों के आधिपत्य में पश्चिमी एशिया के इसलामी देशों से सिंध का व्यापार खूब बढ़ा और, व्यापार के साथ-साथ, भारतीय संस्कृति और चिन्तन ने भी अरब-संसार में प्रवेश किया।

अरब संस्कृति पर भारत का प्रभाव

अरबों की विजय के फलस्वरूप भारत से उनका जो सम्पर्क हुआ, उसका मुस्लिम संस्कृति पर बहुत बड़ा असर पड़ा। शासन सम्बन्धी अनेक बातें अरबों ने हिन्दुओं से सीखीं। देश के अर्थ विभाग का संचालन, प्रायः पूर्ण रूप से, देशी अधिकारियों के हाथ में ही था।* अरब संस्कृति में अनेक ऐसे तत्व पाए जाते हैं जो हिन्दू भारत की देन है। दशमलव की प्रणाली अरबों ने, नवीं शती में, भारत से ही ग्रहण की थी। सच तो यह है कि अरबी साहित्य और विज्ञान की नींव ही ७५० और ८५० ईसवी

* ये अधिकारी, सिंध में, ब्राह्मण होते थे। देखिए ईलियट और डासन, प्रथम खंड, पृष्ठ ४६१।

के बीच दूसरे देशों के सहारे पड़ी थी। अधिकतर ग्रीस और भारत इस सहारे की नींव का आधार थे। युद्ध-कौशल और अस्त्र-विद्या पर, पशु चिकित्सा पर, शिकार के लिए बाज़ को तैयार करने की विधि पर, शगुन-अपशगुन और औषधि-विज्ञान पर अनेक ग्रंथ संस्कृत और फ़ारसी से अरबी में अनुवादित किए गए। कितने ही विद्वानों का मत है कि इस काल में हिन्दुओं की अंक-गणित को अरबों ने अपनाया। अरब-ज्योतिष भी प्रमुखतः भारत से ली गई है। चरक के ग्रंथ और पंचतंत्र की कथाएँ अरबी में अनुवादित हुईं। सुप्रसिद्ध अरब ज्योतिषी, अबूमशर, ने दस वर्ष तक बनारस में रह कर हिन्दू पद्धति का अध्ययन किया। बगदाद के खलीफाओं ने भारतीय विद्वत्ता को अपना संरक्षण प्रदान किया और खलीफा मन्सूर के काल में (७५३-७७४ ईसवी) अरब विद्वान् भारत से बगदाद गए। वे अपने साथ दो ग्रंथ लेते गए—सुप्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त लिखित ब्रह्मसिद्धान्त और खंडाखंड्यका। इन दोनों का अरबी में अनुवाद कराया गया। इन्हीं ग्रंथों की सहायता से अरबों ने वैज्ञानिक ज्योतिष शास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया। इसी प्रकार खलीफा हारून-उल-रशीद (७८६-८०८ ई०) के बरमा के मंत्रियों के परिवार की ओर से हिन्दू ज्ञान शास्त्र को काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। भारत से प्राप्त इस ज्ञान को मुसलमानों ने उपयोगी आधार प्रदान किया और उसे एक नया जामा पहना कर पश्चिमी जगत के सम्मुख पेश किया।*

इनके सिवा अन्य कई विषयों में भी अरबों ने भारत से बहुत कुछ ग्रहण किया और इसलाम की तलवार तथा अरबों की साम्राज्यवादी भावना ने अन्ततोगत्वा, पूर्व के ज्ञान की दिशा पश्चिमोन्मुखी करने में सहायता दी।

—०—

* देखिए ईश्वरीप्रसाद लिखित हिस्ट्री आफ मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ ४६-५० जिसमें अलबेरूनी का हवाला भी दिया गया है।

†देखिए जासेफ हैल लिखित दि अरब सिविलिज़ेशन (एस० खुदाबख्श द्वारा अनुवादित), १६२६, पृष्ठ ६५—और दत्त एन्ड सिंह लिखित हिस्ट्री आफ हिन्दू मैथेमैटिक्स, भाग १, पृष्ठ ८८।

दूसरा परिच्छेद

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य गज़नी और गोरी के राज्य वंश

[१]

विजय की नयी शक्तियाँ

६६०-६१ ईसवी में मुआवियाह (उमैयद) राजवंश ने खलीफाओं की गद्दी पर, सफल सैनिक कार्यवाही द्वारा, अधिकार कर लिया। शिया लोगों ने जो अपने को इसलाम का वास्तविक उत्तराधिकारी कहते थे, घोषित किया कि खलीफा की गद्दी पर पैगम्बर की कन्या और चौथे खलीफा अली की पत्नी फातिमा के वंशजों का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार इसलामी दुनिया में शिया और सुन्नी दो दलों के बीच दरार की शुरूआत हुई। इस दरार के परिणाम भी बहुव्यापी और घटनापूर्ण हुए। उमैयद वंश के खलीफा विजित फारस-वासियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और शक्ति तथा शासन के काम में उन्हें कोई भाग नहीं लेने देते थे। वे शिया लोगों के हितों के संरक्षक बने और अली के वंशजों की ओर आकृष्ट हुए।

अब्बास वंश के खलीफा

७५० ईसवी के लगभग पैगम्बर के एक सम्बन्धी (चचा) ने उमैयदों को अपदस्थ कर खलीफा की गद्दी पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार अब्बासियों—अब्बास के वंशजों—का शासन आरम्भ हुआ। बगदाद से ये शासन करते थे। इनका शासन इसलाम के इतिहास में शानदार स्थान रखता है। सम्पन्नता और शान-शौकत में बगदाद प्राचीन बेबीलोन से प्रतिद्वन्द्विता करता था। श्रीसम्पन्न था। हारून-उल-रशीद अब्बासियों के वंश में सब से इस काल के युरोप की किसी भी राजधानी से वह कहीं अधिक

प्रसिद्ध हुआ। अलिफ़लैला में उसकी न्यायप्रियता की अनेक कहानियाँ मिलती हैं। ७८६-८१४ उसका शासन-काल था। विज्ञान और साहित्य का वह उदार प्रेमी था और अरब संस्कृति को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया था।

हारून-उल-रशीद के बाद उसका पुत्र मामून गद्दी पर बैठा। अपने पिता की तरह वह भी योग्य और प्रतिभासम्पन्न था। लेकिन उसके बाद साम्राज्य को संभालने वाला कोई नहीं रहा और ह्रास का काल शुरू हो गया। धीरे-धीरे साम्राज्य, खण्ड-खण्ड होकर, नष्ट होने लगा। दसवीं शती में खलीफ़ा कमजोर और स्त्रैण हो गए और कितने ही प्रान्त पतियों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। मिश्र और स्पेन में प्रतिद्वन्द्वी खलीफ़ा शासन करने लगे। इराक, फारस और तुर्किस्तान में छोटे-मोटे रजवाड़े उठ खड़े हुए।

तुर्की राज्यों का उत्थान

उमैयदों के शासन में अरब साम्राज्य कुलीन अरबों की थाती के रूप में सुरक्षित रहा। प्रारम्भिक अब्बासियों के शासन काल में राजनीतिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता फारस-वासियों के हाथ में चली गई। अरब-शासन के स्थान पर उन्होंने सच्चे मुस्लिम राज्य की स्थापना की और सभी जातियों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। धीरे-धीरे इनका स्थान तुर्कों ने ले लिया। * ये तुर्क उस

* फारस के उत्तर और पश्चिम में मुस्लिम सीमाओं के विस्तार के साथ साथ सभी तुर्की कबीले, एक के बाद एक इस्लामिक प्रभाव में आते गए। राजाओं की रक्षा के लिए तुर्की अंगरक्षक नियुक्त किए जाते थे; शाही-हरम में तुर्कीदास कन्याओं को लुभा-फुसला कर दाखिल किया जाता था; और धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप में, साहसी तुर्क पर्शियनों को धकिया कर एक किनारे कर सैनिक महत्त्व के पदों पर अपना अधिकार करते जा रहे थे। इस प्रकार, दसवीं शती के मध्य तक यह क्रम पूरा हो गया और मुसलमानों में तुर्कों ने वही स्थान प्राप्त कर लिया, जो मोटे रूप में, हिन्दुओं में क्षत्रियों का है। दस से अठारहवीं शती तक मुस्लिम एशिया में जिन राज वंशों ने शासन किया, उनमें तुर्कों की संख्या अत्यधिक है। (देखिए दि हिन्दुस्तान रिव्यू (१६०४) खंड ६७, पृष्ठ १० और ग्यारह पर प्रकाशित प्रोफेसर एम० हबीब का निबंध—'महमूद आफ गज़नी—एस्टडी')

यापक मंगोल जाति का एक अंश थे जिसमें तातार, तुर्कमान, मंगोल, चीनी और मांचू सभी सम्मिलित थे। भीतरी शासन, कला और साहित्य के क्षेत्र में पर्शियनों का प्रभाव फिर भी बना रहा, क्योंकि तुर्कों की इन विषयों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन सैनिक शक्ति पर पूरी तरह से तुर्की सैनिकों और साहसी व्यक्तियों का अधिकार था। स्पेन, उत्तरी अफ्रीका, मिश्र और सीरिया खलीफा के शासन से निकल गए—यहाँ तक कि फ़ारस की सीमा पर भी कई स्वतंत्र इलाके कायम हो गए। तुर्की रक्षक और सेनापति खलीफा के प्रति कहने-भर की शक्ति रखते थे और शीघ्र ही वह सब से छूट कर, सब से अलग रहने की 'शानदार' स्थिति में पहुँच गया।

समन राजवंश

अब्बासिद साम्राज्य के पूर्वी और उत्तरी छोर पर—खुरासान और कास्पियन सागर के दक्षिणी तट के पासवाले प्रदेश में—जो तुर्की राज्य स्थापित हो गए थे, उनमें समन राजवंश उल्लेखनीय है। यह राजवंश ९११ ईसवी में स्थापित हुआ था। खुरासान और आक्सर-पार के प्रदेश पर यह शासन करता था। इसके बाद के इलाके तातार और तुर्की कबीलों के सरदारों के अधिकार में थे। इन नये शासकों के सामने खलीफाओं का अस्तित्व छाया के समान रह गया था।

९६२ ईसवी में समन-राजवंश से गज़नी (गजनवी) वंश की शाखा फूट कर निकली थी। गजनी वंश की शाखा का संस्थापक अलप्तगीन था। मूल रूप में वह खुरासान का गवर्नर था। समनों के यहाँ नौकरी करते-करते वह ऊँचा उठा और अन्त में उसने अपने-आपको गजनी का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। आठ वर्ष तक भरे-पूरे शासन का उपभोग करने के बाद उसकी मृत्यु हो गई। अमीर सुबुक्तगीन, कुछ गड़बड़ के बाद, उसका उत्तराधिकारी हुआ। गत कई वर्षों से उसने राज्य के प्रमुख व्यक्तियों में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था।

दास राजाओं की परम्परा

सत्ता के पद तक पहुँचने से पहले अलप्तगीन दास था। उसके

तुरत बाद के दो उत्तराधिकारी भी दास थे। सुबुक्तगीन भी दास था और अल्पतगीन की कन्या से विवाह करने में उसने सफलता प्राप्त की थी। जो शक्तिशाली हो, जिसके हाथ में शक्ति हो, वही गद्दी पर बैठे, ऐसी स्थिति होने पर ही दासों के लिए यह सम्भव हुआ कि उन्होंने अपने स्वामियों की गद्दी और उनके राज्य पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। मुहम्मद गोरी के आक्रमण (लगभग ११७५ ईसवी से शुरू ह ने वाली शती में, अफगानिस्तान और भारत, दोनों ही देशों में दास-राजाओं की परम्परा का बोल-बाला रहा। इस परम्परा में—जो जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त पर आधारित थी—अनेक महान व्यक्तियों को प्रकाश में आने का अवसर दिया। 'जब किसी प्रतिभाशाली राजा का पुत्र अयोग्य और निकम्मा सिद्ध होता था तो दासों में से कोई ऊपर उठता था और शासन की बागडोर संभाल लेता था।'

राजा का पुत्र ही गद्दी पर बैठे, इस सिद्धान्त के पीछे एक तरह की जड़ता थी। जो राजा शक्तिशाली होता, उसका पुत्र, प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी, पिता-द्वारा अर्जिति धन और मद के फेर में पड़ कर, आलसी और निकम्मा हो जाता था। उसे निष्क्रिय बनाने में यह भावना भी काम करती थी कि उसे क्या करना है। राजा का पुत्र होने के नाते उसे गद्दी मिल ही जायगी। प्रतिकूल इसके दास अपनी शक्ति और बुद्धि के बल पर ऊपर उठते थे। अध्यवसाय और सतत जागरूकता उनके जीवन का अंग होती थी। यदि वे थोड़ी भी शिथिलता दिखाएँ तो कहीं के न रहें। उनका सेवा-भाव और स्वामी-भक्ति ही थीं जो उन्हें अपने स्वामी की दृष्टि में इतना ऊँचा उठाती थीं। यहाँ तक कि अन्त में वे गद्दी के ही स्वामी हो जाते थे। पूर्वी देशों में दासों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था और कभी-कभी तो उन्हें अपने पुत्र से भी अधिक अच्छी तरह देखा जाता था। जो दास अपने को योग्य सिद्ध कर ऊँचे उठ जाते थे वे उतने ही सम्मान और गर्व का अनुभव करते थे जितने मान-सम्मान की मध्यकालीन कुलीनों के जारज पुत्र आशा कर सकते हैं। और अपनी बारी आने पर जब वे राजसत्ता पर अधिकार करते थे तो अपने पूर्व-राजा की ख्याति और प्रतिष्ठा को—अपने स्वामी की परम्परा को—

कायम रखते थे। भारत में इसका उल्लेखनीय उदाहरण मुहम्मद गोरी के दासों के रूप में देखा जा सकता है।*

जिस समय सुबुक्तगीन गज़नी में राज कर रहा था, उस समय लमगान और पेशावर से लेकर चेनाब तक के समूचे प्रदेश पर जयपाल शासन कर रहा था। जयपाल ओहिन्द (उदभंड या वारहन्द) वंश में उत्पन्न हुआ था।

अमीर सुबुक्तगीन

गज़नी के सिंहासन पर अधिकार करने के बाद अमीर सुबुक्तगीन ने भारत की सीमा की ओर प्रयाण किया। अफगानिस्तान की जनता, जो अधिकतर साइथियन थी, आठवीं शती तक बौद्ध धर्म की अनुयायी थी। लेकिन काबुल की घाटी में धीरे-धीरे इसलाम का प्रवेश होता जा रहा था। और अब सुबुक्तगीन उत्तरी पंजाब के प्रमुख स्वामी, लाहौर के राजा जयपाल के सम्मुख, काबुल नदी के दक्षिण में लमगान के प्रदेश में आ डटा था। सुबुक्तगीन ने दो युद्ध किये और अनेक राजपूत राजाओं को—जिन्हें दूसरे युद्ध के अवसर पर अपने साथ लाने में जयपाल ने सफलता प्राप्त कर ली थी—हराने के बाद लमगान और पेशावर को अपने राज्य में मिला लिया।

विजित प्रदेशों में सुबुक्तगीन ने इसलाम का प्रवेश कराया और इन प्रदेशों में बसने वाले खिलजी और अफगान लोगों को अपनी सेना में भर्ती करना आरम्भ किया। ९९७ ईसवी में बलख में अमीर सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गई। मृत्यु से पूर्व उसने खुरासान को भी अपने राज्य में मिला लिया था। बीस वर्ष तक उसने भरे-पूरे और सम्पन्न शासन का उपयोग किया और, कुछ घरेलू झगड़ों के पश्चात्, उसका सुप्रसिद्ध पुत्र सुलतान महमूद गद्दी पर बैठा। सुलतान महमूद की उपलब्धियों और सफलताओं का वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। उसने कास्पियन सागर से पंजाब और तुर्किस्तान से गुजरात तक फैले हुए विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी।

---

* देखिए लेनपूल लिखित 'मेडीविअल इंडिया', पृष्ठ ६४-६५।

दूसरा परिच्छेद

विजय के प्रमुख कारण

भारत में पाँव रखने के समय मुसलमानों में कुछ विशेषतायें थीं—पर्शियन संस्कृति, तुर्की साहस और सैनिक शक्ति। युद्ध-कौशल आदि में भी वे हिन्दुओं से बढ़े हुए थे। इन्हीं सब कारणों ने उन्हें भारत में अपनी सत्ता और अपना साम्राज्य स्थापित करने में सहायता दी थी।

[२]

गज़नी और भारत का राजवंश

अल्पतगीन के बाद सुबुक्तगीन ने गजनी के राज्य को संगठित किया और, जैसा हम कह चुके हैं, एक से अधिक बार खैबर-दर्रे से आगे बढ़ कर उसने लाहौर के जयपाल पर विजय प्राप्त की। यद्यपि उसकी यह सफलता अस्थायी और जब-तब नज़राने की वसूली तक ही सीमित थी, और केवल लमगान तथा पेशावर के इलाके पर वह अधिकार कर सका था, फिर भी उसने अपनी इस सफलता से अपने अधिक प्रसिद्ध पुत्र सुलतान महमूद के लिए रास्ता खोल दिया था।

ईसा की दसवीं शती के अन्त तक उत्तरी भारत के राजपूत शासक अपनी इच्छा के आप मालिक थे—न उन्हें किसी विदेशी आक्रमण का भय था, न उनके सिर पर अन्य कोई सत्ता थी जो उनके कार्यों में हस्तक्षेप करती। सिंध पर अरबों के आधिपत्य ने उन्हें कोई विशेष विचलित नहीं किया था। आठवीं शती में काबुल की घाटी में इसलाम के प्रवेश ने भी उन्हें चिन्तित नहीं किया था। लेकिन अब, सुबुक्तगीन अथवा उसके पुत्र सुलतान महमूद जैसे शक्तिशाली शासक के रूप में, उनके सिर पर विशेष भय आ खड़ा हुआ था। इनका आचार-विचार, रीति-रिवाज, भाषा, जाति और धर्म, सभी कुछ हिन्दुओं से भिन्न था। युद्ध-प्रणाली भी नयी थी और तेज़ी के साथ यह खतरा पंजाब की भूमि में पाँव रख चुका था। ९९१ ईसवी में, दूसरे युद्ध में, सुबुक्तगीन ने जो विजय प्राप्त की, वह साधारण विजय नहीं थी। यह विजय असल में राजपूत सरदारों की संगठित शक्ति पर विजय थी। जयपाल के

नेतृत्व में कन्नौज के राज्यपाल और सुदूर धाँगा (बुन्देल खंड) के चन्देल जैसे शक्तिशाली राजपूत शासक भी मैदान में उतर आये थे।

संगठन का अभाव

पेशावर पर मुसलमानों का आधिपत्य होने के समय भारत की स्थिति, असंदिग्ध रूप से, दुःखद थी। उपर्युक्त निर्णयात्मक पराजय के बाद भी हिन्दू राजा न चेत सके और अपने को संगठित करने में विशेष तत्परता नहीं दिखाकर पुराने ईर्ष्या-द्वेष में वे फँसे रहे— एक होकर विपत्ति का सामना न कर सके। सुदूर स्थित बंगाल के पाल लोग स्थिति की गम्भीरता को न समझ सके। शासन की निरंकुशता के कारण काश्मीर और कन्नौज जैसे राज्यों का तेज़ी के साथ ह्रास हो रहा था। इसके राजपूत सैनिकों का पाला इस बार अफगान और हिन्दूकुश के प्रदेश में रहने वाले बलिस्ठ, मजबूत बदन और लम्बे चौड़े डील डौल वाले लोगों से पड़ा था जो बहुत ही तेज़ और कुशल घुड़सवार थे। भारत के धन-धान्य और सम्पन्न मन्दिरों की लूट का उनके सामने प्रबल आकर्षण था। यही कारण है जो हर हमले में आक्रमणों की संख्या में वृद्धि होती गई। घुड़सवारी ने उनकी गतिशीलता में बहुत वृद्धि कर दी थी जब कि भारतीय राजा हाथियों को लेकर युद्ध में उतरते थे। हाथियों को देखकर प्रारम्भ में तो घोड़े डरे और बिचके, लेकिन फिर अभ्यस्त हो गये।

उनके मुकाबले में हिन्दुओं का युद्ध-कौशल बहुत पुराना पड़ गया था और युद्ध-विद्या एक वर्ग तक ही सीमित होकर रह गई थी। अधिकांश जनता या तो युद्ध के लिए अनुपयुक्त होती थी या वह राजनीतिक हलचलों के प्रति—उन हलचलों के प्रति जिन्होंने हिन्दू समाज की जड़ें हिला दीं—उदासीन रहती थी। राजपूत लड़ सकते थे, उनमें प्रतिभा और साहस की कमी नहीं थी, लेकिन उनमें एकता न थी, न उनका कोई संगठन था। दम्भ और पूर्वाग्रह उनमें इतना था कि किसी एक के नेतृत्व को स्वीकार करना उनकी कल्पना से बाहर था। अतः संकट पड़ने पर जब कभी इस बात की आवश्यकता होती कि सब एक होकर उस संकट का सामना करें, तब वे अलग-अलग अपने डेढ़ चावल

की खिचड़ी पकाने लगते। इस तरह उनकी सभी शक्ति नष्ट हो जाती और उन्हें शत्रु के सामने घुटने टेकने पड़ते।

मुसलमान पहाड़ी इलाके के ठंडे प्रदेश से आये थे और युद्ध में उतरने पर अधिक साहस और तत्परता का परिचय देते थे। उनका संगठन अच्छा था। अनुशासित और संयोजित रूप में काम करना वे जानते थे। बिना किसी दुविधा के एक नेता के पीछे वे चलते थे और कमान की एकता के मूल्य को अच्छी तरह समझते थे। उनके सामने एक उद्देश्य था, एक आदर्श था जिसके लिए वे लड़ रहे थे। लेकिन हिन्दुओं के पास अपने वर्ग या जातिगत स्वार्थों की रक्षा से अधिक और कोई आदर्श न था। आदर्श और उद्देश्य को सामने रखने से जो प्रेरणा और शक्ति प्राप्त होती है, वह हिन्दुओं के पास नहीं थी। यही कारण है जो वे अधिक साहस का, दृढ़ता और क्षमता का, त्याग और बलिदान की भावना का, परिचय नहीं दे सके। *

युद्ध प्रणाली की तुलना

राजपूतों की युद्ध-प्रणाली बाबा आदम के ज़माने की थी और पुरानी पड़ चुकी थी। अब भी वे अपने हाथियों पर ही भरोसा करते थे। इन्हीं हाथियों के कारण पोरस को सिकन्दर के हाथों हार खानी पड़ी थी। सुशिक्षित और तेज़तुन्द घुड़सवार सेना के सामने बेडौल हाथियों की सेना नहीं टिक सकी। फारस और तुर्किस्तान के स्टेपीज़ इन्हीं घोड़ों के कारण इतने प्रसिद्ध हो गए हैं। फिर मुसलमानों के पास आदमियों की कोई कमी नहीं थी। वे निरन्तर भर्ती कर सकते थे। एक तो लूट के माल का आकर्षण था, दूसरे तलवार के बल पर मज़हब के प्रचार का शुभ कार्य भी था। स्टेपीज़ के लासानी घोड़ों और उनके तेज़ सैनिकों ने सोने में सुहागा का काम किया। आगे चल कर आक्रमकों ने अपनी सेना में हाथियों

---

* ईश्वरीप्रसाद लिखित हिस्ट्री आफ़ मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ १७८-१७९; लेनपूल लिखित मेडीवियल इंडिया, पृष्ठ ६३। इन दोनों ग्रंथों में एक विजेता जाति के रूप में मुसलमानों के संगठन की एकता को उनकी सफलता का श्रेय अधिक दिया गया है।

का शक्तिशाली दस्ता भी सम्मिलित कर लिया जिससे भारतीय युद्ध की पहली पांत का सामना किया जासका। यह पहली पाँत ही सब से भारी और ज़ोरदार होती थी।

हिन्दुओं की युद्ध प्रणाली में एक कमज़ोरी यह थी कि वे सदा रक्षात्मक युद्ध करते थे। लेनपूल ने ठीक ही कहा है कि रक्षात्मक युद्ध किले की दीवारों की ओर से ही किया जा सकता है। अन्यथा वह काफी कमज़ोर सिद्ध होता है। इसके प्रतिकूल आक्रमकों का नेतृत्व योग्य और कुशल सेनानायक करते थे और वे जानते थे कि हिन्दुओं का कौनसा कमज़ोर स्थल है जहाँ आक्रमण किया जाय।*

सुलतान महमूद (९९७—१०३० ईसवी)

नया शासक, जो अमीर महमूद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, तीस वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा और उसने, अपने शासन के दीर्घ काल में, विस्तृत पर लघुकालिक साम्राज्य का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। यह साम्राज्य पंजाब से कास्पियन सागर और समरकन्द से गुजरात तक विस्तृत था। परवर्ती इतिहास-लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार इस 'नायक' का चित्र खींचा है और उसे "अल्लाह के रास्ते पर चलने वाले एक ऐसे मुजाहिद के रूप में प्रस्तुत किया है जिसके पद चिन्हों का अनुकरण कर सभी पाक मुसलिम बादशाह गर्व का अनुभव करेंगे।" कुछ लेखकों ने उसे लेकर अनेक कथाएँ गढ़ डाली हैं। कुछ ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वह कितना बड़ा मूज़ी था और धन का कितना बड़ा अम्बार लगा लिया था। लेकिन वास्तव में न तो वह खुदा की राह पर चलने वाला मुजाहिद था और न सांसारिक दृष्टि से अत्यन्त सफल व्यक्ति था जिसने बटोर-बटोर कर धन का अम्बार लगा दिया हो। अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से समान रूप में लड़ा और अपनी अतुल सम्पत्ति का भी उसने, अपने राज्य का विस्तार करने में, खुल कर प्रयोग किया। उसके आकार-प्रकार और रूप-रेखा में कोई सौन्दर्य नहीं

---

* आक्रमक लोग विजितों के साथ अत्यधिक निर्दयता का व्यवहार करते थे। कुछ राजपूतों के पास भी काफी अच्छी घुड़सवार सेनाएँ थीं।

था। उसका व्यक्तित्व आकर्षण-विहीन था। अपने घनिष्ठतम साथियों से भी वह खुल कर नहीं मिलता था और उसकी समूची शासन-व्यवस्था में ऐसा कोई नहीं था जिसे वह अपना कह सके।

काठी उसकी सख्त और मज़बूत थी और युद्ध की सभी कठिनाइयों को वह सह सकता था। वह सावधान भी खूब था। अनावश्यक साहसिकता के जोश में आकर अपने को खतरे में नहीं डालता था। अपने साथियों से जो वह इतना ऊपर उठ सका इसका कारण उसकी बुद्धि की श्रेष्ठता थी। जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी वह अपना रास्ता निकाल लेता था। अपने साथियों की पहचान करने में भी वह बहुत दक्ष था। उसमें वह बेचैनी—सरगर्मी—पाई जाती थी जो उस व्यक्ति में मिलती है जिसे महान् बनना होता है। उसमें वे सब विशेषताएँ मौजूद थीं जो एक नेता में होनी चाहिए—लगता था, जैसे नेतृत्व करने के लिए ही उसने जन्म लिया है।*

उसके सहायक योग्य थे। वज़ीर ख्वाजाहसन मैमन्दी जैसे योग्य व्यक्ति उसकी सहायता करते थे। धार्मिक व्यक्तियों के हाथ की कठपुतली वह कभी नहीं बना। उसके जीवन का दृष्टिकोण धार्मिक न होकर ऐहिक था। यद्यपि वह कट्टर मुसलमान था, लेकिन राज्य के अधिष्ठाता के रूप में उसे अपने पद का बहुत ध्यान था और वह यह बरदाश्त नहीं कर सकता था कि सत्ता पर मुल्लाओं का असर हो। नैतिक और धार्मिक दृष्टि से वह अपने से पहले के, और बाद के भी शासकों से न भला था और न बुरा।

पहला आक्रमण

९९९ ईसवी तक अमीर महमूद ने अपनी उत्तरी सीमा को सुदृढ़ बना लिया था, समन-राज्य के अन्तिम चिन्हों तक को नष्ट कर दिया था, आक्सस तक अपने राज्य का विस्तार और काफी बड़ी संख्या में स्टेपीज़ के तातारों को मुसलमान बनाने में सफलता

---

* देखिए हिन्दुस्तान रिव्यू, खंड ६७, अंक २८२ पृष्ठ १२ में प्रकाशित प्रोफेसर एम० हबीब का निबंध 'सुलतान महमद आफ गज़नी—ए स्टडी। बम्बई से यह पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुका है।

प्राप्त कर ली थी। इतना सब करने के बाद उसने सुलतान की उपाधि धारण की और सीधे खलीफा से मान्यता प्राप्त की। उसने खलीफा के सामने पूरी गम्भीरता के साथ प्रतिज्ञा की थी कि वह हिन्दुओं के विरुद्ध अपने जीवन-भर जेहाद—धर्म युद्ध—करता रहेगा।

१००० ईसवी में उसने भारत की सीमा को पार किया। अगले वर्ष उसने पेशावर के निकट जयपाल को पराजित कर गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद वह जयपाल की राजधानी वाइहन्द, इन्दस जो सिन्धु पर था, की ओर बढ़ा और उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। पराजित राजा ने अपना राज्य, सारी मुसीबतों के साथ, अपने पुत्र को सौंप, राजपूतों की प्रथा के अनुसार, चिता जला कर अपने जीवन का अन्त कर दिया। १००६ ईसवी में महमूद ने पहली बार सिन्धु को पार किया और झेलम के पश्चिमी तट पर स्थित भेरा के गढ़ पर अधिकार कर लिया। राय आनन्द पाल भय से किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो, रात-भर इस गढ़ का चक्कर काटता रहा।

इसी बीच सुलतान ने मुसलमान और सिंध के ईश्वरद्रोही (मुनकिर) कर्माथियन शासक के विरुद्ध जेहाद बोल दिया और उसे पक्का रूढ़िवादी मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया। उधर तुर्की आक्रमकों के एक दल ने आक्सस के उस पार से उसकी उत्तरी सीमा पर आक्रमण कर दिया था। उसने इस आक्रमण को भी विफल करने में सफलता प्राप्त की।

आनन्दपाल से दूसरा युद्ध

उत्तरी सीमा की ओर से निश्चिन्त होने के बाद महमूद ने फिर से पंजाब पर नया आक्रमण किया। झेलम पर स्थित भेरा उसके अधिकार में था। यहाँ से दक्षिण में मुलतान और पूर्व में आनन्द-पाल के राज्य का अन्तर एक-समान था। आसन्न खतरे का अनुभव कर आनन्दपाल ने अपने साथी राजाओं से सहायता के लिए अनुरोध किया और उन्हें मिलाकर एक शक्तिशाली संघ बनाने में सफलता प्राप्त की। "हिन्दुस्तान के गाँव और कस्बों में देश-रक्षा की भावना की एक लहर-सी दौड़ गई।" पुरुषों ने अस्त्र धारण करके मदद दी, स्त्रियों ने अपने आभूषण न्यौछावर कर दिये और जो

निर्धन थे, उन्होंने अपने श्रम का योग दिया। सूत कात कर उन्हें जो मिलता उसे युद्ध का खर्च चलाने के लिए पेशावर भेज देते थे।

लेकिन तत्कालीन प्रमाणों से पता नहीं चलता कि राजाओं ने मिलकर, खतरे का सामना करने के लिए, संघ का निर्माण किया था। यह भी सन्देहास्पद मालूम होता है कि इस सामूहिक खतरे ने उत्तर भारत के राज्यों को एक मोर्चे पर लाकर खड़ा कर दिया था।* वाइहन्द में हिन्दू, संख्या की दृष्टि से, मज़बूत थे। उन्होंने महमूद को यहाँ युद्ध करने के लिए बाध्य किया। खाई-बन्दी आदि के द्वारा महमूद यहाँ मज़बूती के साथ जमा हुआ और शुरू-शुरू में हवा उसी के अनुकूल थी। हिन्दुओं ने उनकी घुड़सवार सेना पर आक्रमण कर अपने अद्भुत—मौत को गले लगाने वाले—साहस का परिचय दिया। लेकिन एकाएक आनन्दपाल का हाथी आतंकित होकर भाग खड़ा हुआ। इससे हिन्दू सैनिकों में घबराहट फैल गई और वे युद्ध-क्षेत्र से भागने लगे। इस प्रकार एक मात्र राष्ट्रीय मोर्चा, जिसने महमूद से लोहा लेने का साहस किया था, टूट गया और आपसी तूतू-मैं-मैं और आरोप-प्रत्यारोपों ने उसका अन्त हुआ। इसके बाद महमूद को किसी दूसरे संयुक्त मोर्चे का सामना नहीं करना पड़ा (१००८ ईसवी)।

नगर कोट की लूट

इस विजय के बाद महमूद नगर कोट के मन्दिर पर टूट पड़ने के लिए तेज़ी से आगे बढ़ा। यह मन्दिर व्यास के उपरले भाग में स्थित था। इसके तहखानों में बेहद सम्पत्ति थी। सैकड़ों मन सोना, चाँदी और हीरों से मन्दिर के तहखाने भरे थे। मन्दिर पर आक्रमण कर महमूद इन सब को लूट कर ले गया।

आनन्दपाल में अब इतनी शक्ति नहीं थी कि महमूद से फिर युद्ध कर सके। इसका अवसर आने पर उसने स्थायी रूप से आत्म-समर्पण कर दिया। अब सुलतान के लिए पंजाब का मार्ग बाधाहीन हो गया। भारत के हृदय पर अब वह आक्रमण कर सकता था। कोई रुकावट उसके मार्ग में नहीं रह गई थी।

---

* देखिए एच० सी० राय कृत 'डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नारदर्न इंडिया (१९३१), खंड १, पृष्ठ ९९-२।

नन्दाना को राजधानी बनाकर नमक के पहाड़ी प्रदेश में आनन्दपाल ने अपनी सत्ता और शक्ति को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। लेकिन इसके बाद शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र फिर गद्दी पर बैठा। आनन्दपाल के पुत्र का नाम त्रिलोचनपाल था।

१०११-१२ ईसवी में महमूद ने हर्ष की राजधानी थानेश्वर पर आक्रमण किया और इससे पूर्व कि यहाँ राजा आक्रमक से लोहा लेने के लिए कुछ प्रयत्न कर पाता, थानेश्वर के विष्णु के वैभव शाली मन्दिर को लूट-पाट कर महमूद ने श्री-विहीन कर दिया। विष्णु की मूर्ति को वह गज़नी उठा कर लेगया और उसे गज़नी की घुड़शाल में पटक दिया।

१०१३-१४ ईसवी में महमूद को आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचन-पाल के विरोध को शान्त करना पड़ा। अपने पिता की आत्म समर्पण-वाली नीति को छोड़ कर त्रिलोचनपाल ने विरोध का मार्ग पकड़ लिया था। त्रिलोचन के पुत्र 'निर्भय' भीम ने कश्मीर के दर्रा में दृढ़ रक्षा का प्रबंध किया, मगर सफल न हो सका।

१०१६ ईसवी में, पहली बार, महमूद को मुँह की खानी पड़ी और वह काश्मीर के दर्रे को पार करने में सफल न हो सका। मुस्लिम इतिवृत्ति के अनुसार कहा जाता है कि महमूद ने त्रिलोचन पाल और कश्मीर की शक्तियों के विरोध को तोड़ दिया था। लेकिन त्रिलोचनपाल के विरोधी प्रयत्नों का इससे अन्त नहीं हुआ। वह पंजाब के पूर्वी भाग में चला गया और वहाँ, शिवालिक की पहाड़ियों में रह कर, बाधाएँ खड़ी करता रहा। *

१०१८-१९ का महान आक्रमण

१०१८-१९ के जाड़े में महमूद ने अपने गंगा-पार वाले महान् आक्रमण का श्री गणेश किया। जमुना के ऊपर के मार्ग को बेध कर आगे बढ़ा और मथुरा तक पहुँच गया। मथुरा के मन्दिरों को लूट पाट कर उसने धूल में मिला दिया। तेल डाल कर उनमें आग

*देखिए नाज़िम कृत 'दि लाइफ एन्ड टाइम्स आफ सुलतान महमूद आफ गज़नी (१९३१), पृष्ठ ९१।

लगाने से भी वह नहीं चूका। इसके बाद, अनुभवी सैनिकों की एक छोटी टुकड़ी के साथ, वह कन्नौज की ओर गया। शत्रु के निकट आते ही कन्नौज का राजा राज्यपाल गंगा को पार कर भाग खड़ा हुआ। भीतरी नगर के सातों दुर्गों पर महमूद ने, एक ही दिन में अधिकार कर लिया और विजय के मद में इस सम्पन्न प्रदेश को रौंदता हुआ कुछ दूर तक और आगे बढ़ गया। इस विजयी आक्रमण का इस्लामिक जगत पर बहुत प्रभाव पड़ा और खलीफा ने, महमूद की विजय का वर्णन सुनने के लिए, विशेष दरबार का आयोजन किया।

१०१९—२० का आक्रमण

इसी बीच कालंजर के शक्तिशाली चंदेल राजा गंड के प्रयत्नों से हिन्दू राजाओं का एक संघ बन गया था। सुलतान महमूद के सामने कायरता दिखाने के कारण इस संघ ने राज्यपाल को दंडित कर अपदस्थ कर दिया था और उसकी गद्दी पर उसके पुत्र को बैठा दिया था। ऐसा मालूम होता है, गंड ने आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचन को उसका पैतृक राज्य फिर से दिलाने में सहायता करने का भी वचन दिया था। लेकिन १०१९-२० के जाड़े में जो नया आक्रमण शुरू हुआ, उसने पंजाब के अवशिष्ट विद्रोह-विरोध के चिन्हों को भी कुचल दिया। इस आक्रमण में त्रिलोचन की सेना तितर-बितर हो गयी, नयी राजधानी बाड़ी, जिसका कन्नौज के विनाश के बाद प्रतिहारों ने निर्माण किया था, लूट-मार का शिकार हुई और बुन्देल खंड के राजा गंड ने जिसे कुछ लेखकों ने नन्द भी कहा है, इस आक्रमण से आतंकित होकर बिना मुठभेड़ किए ही पीछे हट गया। लेकिन इससे गंड की कमर नहीं टूटी, उसकी शक्ति फिर भी अटूट बनी रही और वह आक्रमणों का विरोध करता रहा। अन्त में सुलतान ने पंजाब को हथिया कर उसे अपने राज्य का अविच्छिन्न अंग बनाने का निश्चय किया। इस भारतीय प्रान्त का उसने एक अमीर को गवर्नर नियुक्त कर दिया और इस प्रकार त्रिलोचनपाल और उसके साहसी पुत्र का सर्वनाश हो गया।*

---

*बहुत बड़े मुस्लिम विद्वान् अलबेरूनी ने, जो सुलतान का समकालीन था और जिसने हिन्दू दर्शन तथा अङ्कगणित का काफी अध्ययन किया था और जो

कालंजर पर आक्रमण

इसके बाद पंजाब को अपनी छावनी बना कर, गंगा के बेसिन और बुन्देलखंड जैसे दूरस्थित प्रदेशों तक पहुँचना सरल हो गया। फलतः अगले ही वर्ष महमूद ने चन्देल राजा गंड के विरुद्ध फिर चढ़ाई की और कालंजर के सुदृढ़ दुर्ग को जिसे अभेद्य समझा जाता था, अपने अधिकार में कर लिया। कालंजर के मार्ग में महमूद ने ग्वालियर के चट्टानी दुर्ग पर भी आक्रमण किया, लेकिन उसे हथियाने में सफल न हो सका पर राजा झुक गया और उसने सुलतान को नज़राना भेंट किया। यह पूर्वतम छोर था जहाँ तक सुलतान अपने पाँव फैलाने में सफल हो सका था। इसके बाद हिन्दुस्तान में उसके लिए आकर्षण समाप्त हो गया, कारण कि जितना वह लूट सकता था, लूट चुका था।

सोमनाथ पर आक्रमण

गुजरात का वैभवशाली राज्य अभी तक सुरक्षित था। सुलतान की दृष्टि अब उसकी ओर आकृष्ट हुई। काफी बड़ी संख्या में घुड़-सवारों के साथ काठियावाड़ के तटवर्ती प्रदेश में स्थित सोमनाथ के मन्दिर की ओर उसने धावा किया। मन्दिर में महादेव का लिंग स्थापित था और सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण के अवसर पर विस्तृत जन-समुदाय इस मन्दिर में दर्शन के लिए उमड़ पड़ता था।

महमूद का साहस बढ़ा हुआ था। निश्चिन्त होकर, साधारण सावधानी का भी ध्यान न रखते हुए, महमूद मुलतान पहुँचा, फिर सीधे पश्चिमी राजपूताना के रेगिस्तान को पार कर, अजमेर और गुजरात के चालुक्य शासकों की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूट-पाट कर बराबर करता हुआ, जान-जोखिम के संघर्ष के बाद सोमनाथ की चारदीवारी पर उसने अधिकार कर लिया। त्रस्त

कतिपय मुसलमान लेखकों में पाये जाने वाले पूर्वाग्रहों से मुक्त था— इनके सम्बन्ध में लिखा है कि ये बहुत ही शुभ भावनाओं से ओतप्रोत कुलीन व्यक्ति थे और भले काम को करने में कभी शिथिलता का अनुभव नहीं करते थे। (देखिए अलबेरूनी लिखित इंडिया- सचाउ-द्वारा अनुवादित, सर्व-सुलभ-संस्करण, खंड दो, पृष्ठ १३)

सेना के बचाव के लिए नयी टुकड़ी आई। उसे भी महमूद ने एक किनारे धकेलने में सफलता प्राप्त की। अन्त में उसने सोमनाथ के मन्दिर पर दखल कर उसके महाकार प्रस्तर लिंग को खंडित कर दिया। इस मन्दिर की लूट से अतुल सम्पत्ति उसके हाथ लगी।

सोमनाथ के बाद महमूद ने गुजरात के चालुक्य राजा पर चढ़ाई की। चालुक्य राजा ने भाग कर समुद्र के निकट शरण लिया। महमूद ने एक बार तो यहाँ तक सोचा कि इसी प्रदेश में स्थायी रूप से बस जाएँ। लेकिन इसके लिए अपने साथी-अनुयायियों को वह तैयार नहीं कर सका और इस प्रदेश का एक गवर्नर नियुक्त कर वापिस लौटने पर ही उसे सन्तोष करना पड़ा।

कूच और सिंध के रेगिस्तानी मार्ग से होता हुआ महमूद वापिस मुलतान लौट आया। उस समय महमूद एक विश्वासघाती मार्ग-प्रदर्शक और जाटों के उत्पात से विक्षुब्ध था।

महमूद के आक्रमणों में सोमनाथ का आक्रमण सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इसे उसकी सैनिक प्रतिभा की श्रेष्ठतम उपलब्धि कह सकते हैं।* इसलाम के इतिहास में, सैनिक साहस की दृष्टि से, इसे बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। इस आक्रमण ने महमूद को कथा-जगत का नायक बना दिया और उसे लेकर अनेक काल्पनिक कथाएँ प्रचलित हो गईं। 'सोमनाथ की मूर्ति तो धूल में मिल गई, किन्तु उसने सुलतान महमूद के नाम को अमर कर दिया।'

महमूद की मृत्यु (१०३० ईसवी)

सुलतान के जीवन के शेष दिन राज्य के पश्चिमी भागों को संभालने और उन्हें संगठित करने में व्यतीत हुये। १०२७ ईसवी में उसे मुलतान के जाटों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। १०३० ईसवी में, ६३ वर्ष की अवस्था में, निःसत्व कर देने वाले रोग में उसकी मृत्यु हो गई। पर्शियन पुनर्जागरण कालका, जिसकी ग्यारहवीं और बारहवीं शती में समूचे इस्लामिक जगत में लहर दौड़

*इस आक्रमण के महत्व के सम्बंध में देखिए नाज़िम कृत सुलतान महमूद आफ़ गज़ना, परिशिष्ट 'एम'।

गई थी, महद नमूना का। प्राचीन पर्शियन परम्परा और संस्कृति के जीर्णोद्धार के युग में वह उत्पन्न हुआ था। यह वह काल था जब लोगों में पर्शिया प्राचीन लोक-नायकों के प्रति प्रबल आकर्षण लहरें मार रहा था और वे उनका गुण-गान करते न अघाते थे।

साहित्यिक प्रगति

जीर्णोद्धार की इस भावना को कितने ही तुर्की राजाओं तथा रजुल्लों ने बढ़ावा दिया। इसलाम के प्रारम्भिक रूप की शान शौकत ने उन्हें जितना प्रभावित किया था उतने उसके कठोर आदर्शों ने नहीं। जीर्णोद्धार की इस भावना को प्रोत्साहित करने वालों में महमूद सबसे अधिक शानदार था। अपने सुसंस्कृत दरबार में उसने अनेक कवियों को रख छोड़ा था जिनमें शाहनामा का अमर रचयिता फिरदौसी भी था। राजकवियों में वह सब का प्रमुख था। उसकी भाषा ने क्लासिकल रूप धारण कर लिया था। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक अलबेरूनी को सुलतान ने बंदी बनाकर जलावतन कर दिया था।* फलतः अलबेरूनी का जीवन भारत में इधर-उधर घूमते, हिन्दुओं के ज्ञान-विज्ञान और भाषाओं का अध्ययन करते बीता। इस अध्ययन के फलस्वरूप अलबेरुनी, आने वाली पीढ़ियों के लिए, अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ तारीख-उल-हिन्द छोड़ गया। इस ग्रंथ में ग्यारहवीं शती के भारत के साहित्य और विज्ञान का विवेचन किया गया है। काव्य साहित्य ने गजनी में सर्वाधिक उन्नति की, वैसे जीवनी-लेखन, रोमान्स और इतिहास-लेखन का भी अच्छा प्रचार था। सुलतान का साम्राज्य तो आज अतीत की एक स्मृति बन कर

---

*फिरदौसी की घटना से पता चलता है कि किस प्रकार लोभी सुलतान ने शाहनामा की रचना के पुरस्कारस्वरूप वचन तो स्वर्ण मुद्राएँ देने का दिया था, लेकिन असल में दी चाँदी की मुद्राएँ। इससे विक्षुब्ध होकर फिरदौसी ने सुलतान के विरुद्ध एक व्यंग-रचना लिखी और सदा के लिए गज़नी को छोड़ दिया। बाद में जब सुलतान ने अपनी गलती का अनुभव करते हुए पश्चाताप किया और फिरदौसी के पुरस्कार की शेष रकम भेजने का प्रबंध किया, उस समय फिरदौसी की लाश दफ्न करने के लिए ले जाई जारही थी। लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि यह घटना झूठी है। अतः इस घटना की आलोचना भी काफी हो चुकी है। आलोचकों का कहना है कि यह घटना निराधार है।

रह गया है, लेकिन शाहनामा का सौन्दर्य और उसकी विद्वता सदा-सदा के लिए अमर रहेगी।*

आक्रमणों का उद्देश्य

महमूद ने भारत में जो कुछ किया, वह उसके जीवन के उद्देश्य का एक छोटा हिस्सा था। प्रमुख रूप से मध्य एशिया से उसका लगाव था और पर्शियन आदर्श उसके रग व रेशे में व्याप्त थे। उसके सपनों में भारत के लिए कोई स्थान नहीं था। उसके जीवन का वास्तविक उद्देश्य एक तुर्क-पर्शियन साम्राज्य की स्थापना करना था। भारतीय आक्रमण उसके इसी उद्देश्य की पूर्ति का एक अंग थे। इन आक्रमणों से उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। लूट के धन से उसने अपने खज़ाने को भरा। इसलाम के प्रचार के लिए नहीं, स्वर्ण और दुनियावी प्रतिष्ठा के लिए उसने भारत की भूमि को रौंदा था।† उसे मुजाहिद नहीं कहा जा सकता। उसकी सेना में धार्मिक जेहाद करने वालों का दल नहीं था। वरन् उसमें ऐसे लोग थे जो हिन्दू और मुसलमान का भेद किये बिना किसी के भी विरुद्ध लड़ सकते थे। धार्मिक भावना के सूत्र में नहीं, कठोर सैनिक अनुशासन में वे बँधे हुए थे।

---

*हिन्दुओं की विद्वत्ता और उनके ज्ञान विज्ञान के प्रति अलबेरूनी के हृदय में अत्यधिक आकर्षण था। हिन्दुओं के अच्छे गुणों की वह यथोचित कद्र करता था और उनके दुर्गुणों की ओर संकेत करने से भी नहीं चूकता था। वह पहला मुसलमान था जिसने संस्कृत का अध्ययन किया। हिन्दू-दर्शन में भी उसकी अच्छी गति थी। उसका अध्ययन स्वानुभूत था। सुलतान महमूद की लूटमार की उसने साहस के साथ निन्दा की थी। देखिए सचाउ के अनुवाद, सर्वसुलभ संस्करण की भूमिका और पृष्ठ २२।

†प्रोफ़ेसर एम० हबीब के कथन को ही हमने यहाँ दोहराया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि महमूद के आक्रमणों में धार्मिक कारण खोज निकालना असम्भव है। वह उन मन्दिरों को लूटता था जिनमें देश की प्रचुर सम्पत्ति संचित रहती थी और विजितों के प्रति उदारता और सहनशीलता के साथ पेश आता था—उन्हें अपने धर्म आदि के पालन को छूट देता था। जो कुछ उसने किया, उसका समर्थन करने के लिए इतिहास-लेखकों ने धार्मिक जेहाद के आवरण का सहारा लिया है और इन कृत्यों के कर्त्ता के गुण गाए हैं।

आज के इतिहास-लेखक सुलतान को मुजाहिद नहीं मानते। स्वतंत्रचेता और मुनकिर मुसलमानों को वह दंडित करता था। वह राज्य की दृष्टि से धार्मिक एकता में विश्वास करता था और जो कोई भी इस राजकीय एकता का उल्लंघन करता उसे कठोर दंड देता था। सभी प्रदेशों में उसने मस्जिदें बनवाईं और इनमें और 'अविश्वासी' लोगों को सत् राह पर लाने के मुस्लिम प्रचारक नियुक्त किये। अगर कुछ राजाओं ने इसलाम धर्म को कबूल भी किया तो सम्भवतः इसलिए नहीं कि उन्हें इसलाम में विश्वास हो गया था, वरन् राजनीतिक कारणों से उन्होंने ऐसा किया। गज़नी तक में हिन्दुओं के अलग निवास-स्थानों की सुविधा का प्रबंध किया गया और धर्म का पालन करने के लिए वे स्वतंत्र थे। हिन्दू-मन्दिरों के विनाश और उनकी लूट की नीति का भी उसने केवल युद्ध-काल में ही पालन किया, वह भी इसलिए कि ये मन्दिर देश की सम्पत्ति का आगार थे।

साम्राज्य का अस्थायित्व

महमूद का साम्राज्य इराक और कास्पियन सागर से लेकर गंगा तक और आक्सस से सिंध तथा राजपूताना के रेगिस्तान तक फैला हुआ था। व्यास, सुलतान और भटिंडा के प्रान्तों तक फैले हुए हिन्दू शारिया राज पर उसने विजय प्राप्त की थी। कश्मीर की पहाड़ी रियासतों, कन्नौज और गवालियर के राजा लोग उसे नज़राना देते थे। महमूद का यह विस्तृत साम्राज्य, मज़बूत शासन-व्यवस्था की दृष्टि से, किसी एक इकाई में बँधा हुआ नहीं था। नागरिकों के लिए उपयुक्त शासन-व्यवस्था उसके स्वभाव के प्रतिकूल थी। उसके अधिकारी क्रूर और दमनप्रिय थे। कितने ही विजित प्रदेशों में शान्ति स्थापित करने में वह और उसके अधिकारी सफल नहीं हो सके। राज-मार्ग सुरक्षित थे। डाकू और लुटेरों का दमन करने के लिए पुलिस की कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। पंजाब में पूरी अराजकता फैली थी। महमूद के सैनिक इतने क्रूर और लुटेरे थे कि हिन्दू लोग इसलाम और उसके अनुयायियों को भय और आतंक की दृष्टि से देखने लगे थे। महमूद के शासन के इस पहलू की अलबेरूनी ने कटु आलोचना की थी। उसने कहा

था—"व्यापक नाश के दृश्यों ने हिन्दुओं के हृदय में मुसलमान मात्र के लिए गहरी घृणा का संचार कर दिया है। इसका ही नतीजा यह है कि हिन्दू ज्ञान-विज्ञान विजित प्रदेशों से भाग कर ऐसी जगहों में पहुँच गया है जहाँ हमारे हाथ न पहुँच सकें—जैसे कश्मीर और बनारस आदि।"*

महमूद हद दर्जे का निरंकुश शासक था। प्रांतीय शासकों और सेना-नायकों को वह अपने अंगूठे के नीचे रखता था और उसके सामने जो मामले आते थे उन्हें बिना किसी पक्षपात के, फैसला करता था। वह राज्य की सम्पूर्ण गति केन्द्र था। उसने अधिकारियों का एक बहुत बड़ा दल रख छोड़ा था। वज़ीर इन अधिकारियों का प्रमुख होता था। अर्थ-विभाग उसी के हाथ में रहता था। सेना में अनेक श्रेणियाँ थीं। योग्यता और कार्य कुशलता के अनुसार तरक्की दी जाती थी। साम्राज्य-भर में, एक प्रणाली के अनुसार, क्रम से अधिकारी नियुक्त थे। विशेष संवाददाताओं और गुप्तचरों के द्वारा पूरे साम्राज्य को गति विधि से सुलतान परिचित रहता था। सिविल शासक (गवर्नर) के अलावा प्रत्येक प्रान्त में एक सेनापति होता था जो कर वसूल करता था। हर कस्बे में रक्षा के लिए एक दुर्ग होता था। दुर्ग का कमान कोतवाल के हाथ में रहता था। धार्मिक दान तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं पर नियंत्रण रखा जाता था।†

लेकिन इस विस्तृत व्यवस्था-प्रणाली के रहते हुए भी राज्य का काम संभल नहीं पाता था, वह बेकाबू होगया था। सुलतान भी इसका अनुभव करता था—यहां तक कि उसने अपने पुत्रों में इसे विभाजित करने की योजना भी बनाई थी।

इस प्रकार, महमूद के साम्राज्य के मूल में कुछ एसी बातें थीं कि भारत में वह स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकता था। लाहौर के पूर्व में, तेज़ी के साथ, इस साम्राज्य का प्रत्येक चिन्ह विलीन हो गया। सुलतान की मृत्यु के बाद, पन्द्रह वर्ष के भीतर ही, हिन्दू

---

* देखिए सचाउ कृत अनुवाद, खंड १, पृष्ठ २२।

† देखिए नाज़िम लिखित सुलतान महमूद, परिच्छेद १०।

पुनर्जागरण की भावना ने जोरों के साथ सिर उभारा इसने गजनवियों के भारतीय प्रदेशों को अत्यधिक क्षीण बना दिया।

[२]

गज़नवियों का पतन और गोरी का उत्थान

महमूद के बाद उसका योग्य पुत्र मसऊद सिंहासन पर बैठा। उसका व्यक्तित्व और बदन रुस्तम के समान था। एक बार यह भी प्रयत्न किया गया था कि उसके स्थान पर उसका भाई मुहम्मद सिंहासन का उत्तराधिकारी हो। वह अपने अति-विश्वास में भूला रहा और नहीं देख सका कि उसके विरुद्ध क्या चाल चली जा रही है। वस्तुस्थिति से वह बेखबर था। उत्तर-पश्चिम की ओर से सेल्युक तुर्क आक्रमण के लिए जमा हो रहे थे। उनसे लोहा लेने के बजाय उसका ध्यान हिन्दुस्तान की ओर लगा हुआ था।

सेल्युक तुर्कों से उत्पन्न खतरे की अपेक्षा कर उसने पूर्व की ओर प्रयाण किया और बनारस तक बढ़ गया। इस वैभवशाली तीर्थ को उसने खूब लूटा। पंजाब उन दिनों अशान्ति और अराजकता का केन्द्र था। इसके गवर्नर ने विश्वासघात किया और वह द्रोही बन बैठा। सुलतान के विश्वासपात्र तिलक नामक एक साहसी व्यक्ति ने बड़ी कठिनाई से उसका दमन करने में सफलता प्राप्त की। इससे पता चलता है कि सुलतान की सेना में हिन्दुओं का भी स्थान था। हर जगह रईस और किसान शान्ति के साथ रहते थे।

मसऊद ने हाँसी पर भी चढ़ाई की और उसे अपने अधिकार में कर लिया। लेकिन इस प्रकार की विजयों ने उसके साम्राज्य को स्थायित्व नहीं प्रदान किया। इधर मसऊद विजय प्राप्त कर रहा था और उधर सेल्युक तुर्कों ने आक्सस पार के प्रान्तों और खुरासान को रौंद डाला और मर्व के युद्ध में सुलतान को बुरी तरह पराजित कर दिया था (१०३७ ईसवी)। परिणामस्वरूप मसऊद को सिंहासनच्युत होना पड़ा और अल्पकालिक क्रान्ति के बाद, सिंहासन उसके पुत्र मादूद के हाथों में चला गया। मादूद

ने पंजाब पर अपना अधिकार दृढ़ करने के लिए जी-जान से प्रयत्न किया।

हिन्दुओं का 'प्रत्याक्रमण'

पश्चिम में गज़नी साम्राज्य को सेल्युक तुर्कों ने नष्ट कर दिया था। परिस्थिति, अशान्ति और अराजकता की शक्तियाँ, मादूद के वश से बाहर हो गई थीं। हिन्दू सरदारों की संघबद्ध शक्ति ने गज़नवी अधिकारियों को थानेश्वर और नगर कोट को छोड़ कर पलायन करने के लिए बाध्य कर दिया था। नगर कोट के मन्दिर के फिर से हाथ में आ जाने पर हिन्दुओं में खुशी की लहर दौड़ गई। मुसलमानों को रावी के पश्चिम में खदेड़ दिया गया था। लेकिन लाहौर पर मुसलमानों का फिर भी अधिकार बना रहा और हिन्दू सरदार उसे घेर कर दबाव डाले बिना ही वापिस लौट आए। देश के शेष भाग में हिन्दू लोग मुसलमानों को भूल चुके थे। महमूद के छोड़े हुए चिन्ह मिटा दिए गए थे। लेकिन हिन्दुओं ने अभी तक अपने शत्रुओं से कोई सबक नहीं सीखा था। आर्यावर्त के गृहयुद्धों का अन्त कर राष्ट्रीय सत्ता का निर्माण वे नहीं कर सके। इससे डेढ़ शती बाद शहाबुद्दीन गोरी ने जब भारत में पाँव रखा, तब भी यहाँ के रईस उतने ही कटे-फटे थे जितने कि पहले!

गज़नी का पतन

गज़नवियों के परवर्ती इतिहास के सम्बंध में अधिक पता नहीं चलता। सेल्युकों के साम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति ने उन्हें छा लिया था। राजसी षड्यंत्रों और क्रान्तियों में गजनवी शासकों की शक्ति क्षीण हो गई थी। लाहौर और मुलतान पर उनका अधिकार अभी तक बना हुआ था, क्योंकि संगठित शक्ति के अभाव के कारण हिन्दू उन्हें नहीं ले सकते थे।

१०४९ में सुलतान मादूद की मृत्यु हो गई थी। उसके उत्तराधिकारियों ने बढ़ती हुई सेलजुक साम्राज्य के आधिपत्य में रहना स्वीकार कर लिया था। तुर्कों के प्रभाव से पर्शियन संस्कृति का प्रसार और प्रचार बढ़ा। ११५२ ईसवी में अन्तिम उल्लेखनीय शासक बहराम की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को

अपना घर छोड़ कर पंजाब में शरण लेनी पड़ी। तुर्कों और हेरात तथा ग़ज़नी के बीच के पहाड़ी प्रदेश गोरी के सरदारों ने बहराम को बाध्य किया और वह पंजाब के अपने इलाके में आकर रहने लगा।

अलाउद्दीन गोरी

अलाउद्दीन गोरी ने, जो जरांसोज़ नाम से अधिक प्रसिद्ध है, अपने भाई के अपमान का बदला लेने के लिए, ग़ज़नी पर चढ़ाई कर दी और निर्ममता के साथ गजनी को लूट पाट कर बराबर कर दिया। लगभग इसी समय में सेल्युक वंश के भी घुटने टूट गए और इस प्रकार, अपने प्रमुख सहायक के अभाव में, गजनवी-सम्राट् ने भाग कर लाहौर के अपने इलाके में शरण ली।

एक शती तक फूलने-फलने के पश्चात् सेल्युक साम्राज्य का बारहवीं शती के मध्य से ह्रास होने लगा। प्रान्तीय शासकों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और आक्रमकों की एक नयी जाति—तुर्कमान--ने यक्षार्त के उधर से आकर साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। तुर्कमानों के आक्रमण से आकसस की घाटी और खुरासान उजाड़ हो गए। इस प्रकार, ग़ज़नी और सेल्युक साम्राज्य के अवशेषों पर दो नये शक्तिशाली और तेज़ राज्यों का उदय हुआ—एक गोर-राज्य, दूसरा ख्वारिज्य राज्य। गोर-वंश ने, जैसा कि हम अभी देखेंगे, भारत में ग़ज़नवियों का स्थान लिया।

गोरी का राज्य

एक छोटी किन्तु स्वतंत्र शक्ति के रूप में गोरी सरदारों का अस्तित्व बहुत दिनों से कायम था। १०१० ईसवी के लगभग ग़ज़नी के सुलतान महमूद ने उनकी शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया था तब से वे, ग़ज़नी के प्रभुत्व में, अलाउद्दीन के ग़ज़नी को रक्त और आग का स्नान कराने के समय तक बने रहे। ११६१ में अलाउद्दीन की मृत्यु होने पर उसके दो भतीजे, गयासुउद्दीन और शहाबुद्दीन, सत्ताधारी बने। बड़े भतीजे ने ग़ज़नी और हेरात पर अधिकार कर लिया और अपने वंश के समूचे विस्तृत प्रदेश का, १२०२ ईसवी तक अपनी मृत्यु के समय तक, नामधारी शासक बना रहा। उसका

छोटा भाई, जो साधारणतया मुहम्मद गोरी के नाम से प्रसिद्ध है, वास्तव में असली शासक और साम्राज्य का निर्माता था।*

मुहम्मद गोरी ने सबसे पहले सेल्युकों के हाथ से खुरासान के एक भाग पर अधिकार किया। इसके बाद भारत पर उसके आक्रमणों का सिलसिला शुरू हुआ। इन आक्रमणों ने भारत में मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित करने में नींव का काम दिया। ११७६-८ ईसवी में, दो वार चढ़ाई करके, उसने मुलतान और सिंध को अपने अधिकार में कर लिया। गुजरात के भीमदेव चालुक्य पर भी उसने आक्रमण किया था, पर सफल न हो सका। समूचे पेशावर और सिंध पर, समुद्र-तट तक, वह पहले ही अधिकार कर चुका था। इसके बाद सियालकोट के दुर्ग को दृढ़ किया और फिर, गज़नी-वंश के अन्तिम सदस्य खुसरो मलिक को पराजित कर ११८६ ईसवी में लाहौर पर भी अधिकार कर लिया।

इस प्रकार सुबुक्तगीन की परम्परा का दयनीय अन्त हुआ और पंजाब का प्रभुत्वभाग गोरियों के हाथ में चला गया।

[३]

मुहम्मद गोरी और हिन्दुस्तान की विजय

मुहम्मद गोरी के हाथ में अब सिन्ध की पूरी पांत, समुद्र के छोर तक, आ गई थी। अपने भारतीय आधार को और अधिक दृढ़ बनाने की ओर उसने ध्यान दिया और पूर्वी सीमा पर स्थित नगर सिरेहिन्द † की किलेबन्दी की। यह नगर सतलज और यमुना के बीच स्थित था।

अपने सभी मुसलमान प्रतिद्वन्दियों को गोरी ने दबा दिया था। अपनी शक्तियों को उसने फिर से संगठित किया और अब वह इस स्थिति में था कि राजपूतों से लोहा ले सके। उसकी सैनिक तैयारियों ने दिल्ली और अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान को खबरदार कर दिया। राजपूतों में गहड़वाल सब से अधिक

---

* देखिए लेनपूल कृत दि मोहम्डन डाइनेस्टीज़ (१८६४), पृष्ठ २६२

† इतिहास-लेखकों ने इस नगर को तबर हिन्द भी कहा है। कुछ ने इसे भटिंडा समझने में भूल की है जो पश्चिम में, काफी आगे स्थित है।

शक्तिशाली थे जो बाद में कन्नौज के राठौर के नाम से प्रसिद्ध हुए। फिर दिल्ली और अजमेर के चौहानों का नम्बर आता था। बिहार और बंगाल के पाल और सेन इतनी दूर थे कि आसन्न खतरे की गम्भीरता को वे अनुभव नहीं कर सके। इनके सिवा बुन्देलखंड के चन्देल थे और गुजरात के शासक—पहले चालुक्य और फिर बघेल थे। कन्नौज के जयचन्द्र और दिल्ली के पृथ्वीराज इनमें सबसे शक्तिशाली थे। लेकिन उनके आपसी द्वेष और घृणा ने उन्हें एक न होने दिया और आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा वे स्थापित नहीं कर सके। कहा जाता है कि कन्नौज के जयचन्द ने तुर्की सैनिकों को अपनी नौकरी में रख छोड़ा था। इन सैनिकों के द्वारा आक्रमणों को अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो गईं। जयचन्द पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि उसने पृथ्वीराज का नाश करने के लिए गोरी को विधिवत् निमंत्रित किया था। लेकिन सम्भवतः यह आरोप ठीक नहीं है।

पृथ्वीराज से प्रथम युद्ध

गोरी का पहला युद्ध पृथ्वीराज से तरायन (नारायण) में, थानेश्वर के निकट, ११९१ ईसवी में हुआ। कन्नौज को छोड़ कर शेष सभी राजपूत सरदारों ने पृथ्वीराज का साथ दिया था। सहसा धावा बोल कर राजपूतों ने शत्रु को तितर बितर कर दिया। स्वयं गोरी भी घायल हो गया था और युद्ध-क्षेत्र से उसे उठा कर ले जाया गया। मुस्लिम सेना आतंकित होकर छिन्न-भिन्न हो गई और चालीस मील तक राजपूत सैनिक उसका पीछा करते रहे। राजपूतों ने सिरहिन्द को घेर लिया और दीर्घ मुहासिरे के बाद अच्छी और अनुकूल शर्तों पर घेरा हटाया।

दूसरा आक्रमण

अगले वर्ष गोरी ने पहले से भी अधिक बड़ी सेना के साथ आक्रमण किया। पहलेवाले युद्ध क्षेत्र में इस बार भी गोरी और पृथ्वीराज की मुठभेड़ हुई। पृथ्वीराज के नेतृत्व में राजपूत-संघ की सेनाएँ थीं। हाथी और घोड़ों की सेना भी काफी बड़ी थी। जम कर लड़ने के स्थान पर मुसलमानों ने आकस्मिक हमलों का सहारा लिया। घोड़ों पर वे तेज़ी के साथ आक्रमण करते और फिर, उतनी

ही तेज़ी के साथ, लौट भी जाते। उन्हें तेज़ी से लौटते देख हिन्दुओं ने समझा कि वे युद्ध क्षेत्र छोड़ कर भाग रहे हैं और यह उन्होंने अपनी सुरक्षित सेना के साथ अन्तिम आक्रमण किया था।* गहरा युद्ध रात के आगमन तक हुआ जिसमें हिन्दुओं को पूरी तरह से पराजित होना पड़ा। इस युद्ध में पृथ्वीराज के बहनोई, चित्तौड़ के समरसी, जो अपनी बुद्धि और साहस के लिए प्रसिद्ध थे, मारे गए। पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराज भी इस युद्ध में काम आए। स्वयं पृथ्वीराज भी युद्ध क्षेत्र से भाग खड़े हुए, लेकिन फिर पकड़े गए और बुरी अवस्था में मौत के घाट उतार दिए गए।

इस पराजय के फलस्वरूप समन, हांसी तथा आस पास के अन्य प्रदेश हाथ से निकल गए, राजपूत-शक्ति को यह ऐसी चोट लगी थी जिसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती थी। इस पराजय से समूचे हिन्दू समाज का मनोबल बहुत नीचे गिर गया। उसके सभी अंगों को पराजय की भावना ने ग्रस लिया। राजपूतों में अब ऐसा कोई शेष न था जिसके नेतृत्व में अन्य राजपूत राजा मुसलमानों से लोहा लेने के लिए जमा होते।†

अजमेर-दिल्ली आदि की पराजय

गोरी ने फिर अपने शत्रु की प्रमुख राजधानी अजमेर पर अधिकार किया और इसके शासन का भार, नज़राना देने की शर्त पर, पृथ्वीराज के पुत्र के हाथों में सौंप दिया। इसके बाद, नये विजित प्रदेशों को अपने प्रिय दास कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंप कर, वह गज़नी लौट गया। कुतुबुद्दीन ने, द्रुत गति से, मेरठ, अलीगढ़ और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली को उसने अपना प्रमुख अड्डा बनाया। इसके बाद, शीघ्र ही, अजमेर से हिन्दू-शासन का चिन्ह पूर्ण रूप से मिटा दिया और उसे, स्थायी रूप से, मुसलमान राज्य में मिला लिया (११६५ ईसवी)।

---

* बाद में अहमदशाह अब्दाली ने भी इसी तरह की युद्ध-नीति का प्रयोग किया। सुबुक्तगीन और सुलतान महमूद भी इसी आकस्मिक आक्रमण की प्रणाली का बहुत पहले प्रयोग कर चुके थे।

† देखिए ईश्वरी प्रसाद लिखित मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ ११३।

कन्नौज का पतन

इसके पश्चात् गोरी का ध्यान कन्नौज की ओर गया। जयचन्द, जो देशहित की उपेक्षा कर पहले युद्धों से अलग था, चन्दावर के निकट पराजित हुआ और गंगा में डूब कर उसकी मृत्यु हो गई। वह भागने का प्रयत्न कर रहा था, लेकिन बीच में ही गंगा ने उसे उदरस्थ कर लिया। कन्नौज को लूटने के पश्चात् गोरी बनारस की ओर बढ़ा। बनारस गहड़वालों की दूसरी राजधानी थी। यहाँ के मन्दिरों को गोरी ने नष्ट कर दिया। मुसलमान इतिहास लेखकों के अनुसार बनारस तक समूचे देश को उसने अपने राज्य में मिला लिया और हिन्दू मुद्राओं पर अपने नाम का ठप्पा लगवाया।

कुतुबुद्दीन का शासन

गोरी ने कुतुबुद्दीन को हिन्दुस्तान के सभी विजित प्रदेशों का वाइसराय नियुक्त कर दिया था। वह बहुत ही योग्य शासक था। उसने शीघ्र ही समूचे देश में शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त की—"यहाँ तक कि शेर और बकरी एक ही घाट पानी पीने लगे।" *

मनमानी करने और अनुशासन न माननेवाले सरदारों को उसने कठोर दंड दिये। अजमेर को स्थायीरूप से अपने राज्य में मिला लिया और, ११९६ ईसवी में, अपने स्वामी के साथ ग्वालियर के दुर्ग पर आक्रमण कर उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। इसके बाद वह गुजरात की ओर मुड़ा, उसके शासक भीमदेव को पराजित किया और उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ पाटन को रौंद डाला (११९७)। इस आक्रमण से गुजरात की नींव यद्यपि बुरी तरह हिल गई थी, लेकिन वह फिर अपने पाँव पर खड़ा हो गया और एक शती बाद तक विनाश से बचा रहा।

१२०२ में कुतुबुद्दीन ने, अपने दास अल्तमश के साथ, बुन्देल-खंड के चन्देल राजा पर चढ़ाई की और उसे पराजित कर कालिंजर

---

* देखिए इलियट और डॉसन कृत हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड दो, पृष्ठ २२१।

के सुदृढ दुर्ग को समर्पित करने के लिए बाध्य कर दिया। यमुना के तट पर स्थित निकटवर्ती कालपी पर भी मुसलमानों का अधिकार हो गया।

बिहार और बंगाल की विजय

इसी बीच एक तुर्क-अफगानी साहसी व्यक्ति मोहम्मद बिन बख्तियार ने, जो मोहम्मद गोरी की सेवा में था और जिसने, कुतुबुद्दीन के नेतृत्व में ख्याति प्राप्त की थी, ११९७ ईसवी में बिहार पर चढ़ाई की। वहाँ के पाल वंश को उसने सहज में ही उखाड़ दिया। ह्रासोन्मुखी बौद्ध धर्म का भी, जिसने वहाँ जड़ें जमा रखी थीं, इस आक्रमण के फलस्वरूप नाश हो गया। कहा जाता है कि उसने एक बौद्ध विहार (सम्भवतः विक्रमशिला) पर कब्जा कर वहाँ जितने भी सिरघुटे बौद्ध थे, सब को मार डाला और विहार में जितने ग्रंथ संग्रहीत थे, उनमें से एक बड़ी संख्या को बाहर निकाल कर फेंक दिया।

इसके बाद बंगाल पर आक्रमण कर उसने राय लक्ष्मण सेन गौड़ को पराजित किया। राय लक्ष्मण सेन के लिए यह आक्रमण अप्रत्याशित था। अपनी राजधानी नदिया (नवद्वीप) से भाग कर उसने अपने पुरखों की राजधानी में शरण ली। वहाँ पर उसके उत्तराधिकारी कुछ काल तक शासन करते रहे। मुहम्मद ने संस्कृत विद्या के केन्द्र नदिया को नष्ट कर दिया और लखनौती को अपनी राजधानी बनाया (लगभग ११९९ ईसवी)।

कुछ थोड़े से मुसलमान घोड़सवारों की टुकड़ी के सामने राय लक्ष्मण सेन के कायरतापूर्ण पलायन की इस घटना का वर्णन मुसलमान इतिहास-लेखकों ने किया है। सम्भव है, इस वर्णन में अतिरंजन की मात्रा हो और यह घटना सत्य न हो।

मुसलमान विजेता की आकांक्षा थी कि उसके राज्य का विस्तार हिमालय के प्रदेश तक हो। लेकिन उसकी यह आकांक्षा पूरी न हो सकी और काफी क्षति उठाने के बाद उसे लौट जाना पड़ा।

मुहम्मद गोरी का अन्त

सुलतान महमूद के समान मुहम्मद गोरी की आकांक्षाओं के विस्तार का क्षेत्र पश्चिम में भी था। अतः, भारी सेना के साथ, उसने ख्वारिज़्म पर आक्रमण किया। लेकिन वह सफल न हो सका। बुरी तरह पराजित होकर और मुश्किल से अपनी जान बचा सका (१२०३-४ ईसवी)। यह विजेता पश्चिम को रौंदता हुआ आगे बढ़ा और अफगानिस्तान में घुस गया। अराजकता और अशान्ति की शक्तियों ने तेजी के साथ सिर उभारना शुरू किया। गोरी के ही एक दास ताजुद्दीन अलदाज़ ने, जो गजनी का शासक था, अपने मालिक के विरुद्ध नगर का फाटक बंद कर लिया और स्वयं स्वतंत्र बन बैठा। पंजाब में हर जगह उपद्रवी खोखरों ने आग भड़का रखी थी। लेकिन कुतुबुद्दीन अपने मार्ग से विचलित नहीं हुआ तथा गज़नी पर फिर से अधिकार जमाने में अपने मालिक का साथ दिया। खोखरों का दमन करने में भी हाथ बटाया। लेकिन अराजकता और अव्यवस्था के इस दौर में लाहौर से अफगानिस्तान की यात्रा करते समय, १२०६ ईसवी में, खोखरों के एक दल ने मुहम्मद गोरी की हत्या कर डाली।

गोरी की मृत्यु के बाद उसका राजवंश अधिक दिनों तक नहीं चला। तुर्की दासों ने, जिन्होंने सेनापतियों के रूप में गोरी का साथ दिया था, उसकी मृत्यु के बाद अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। बादशाहों में कुतुबुद्दीन सबसे पहले दिल्ली का शासक बना। नासरुद्दीन कुबाइचा सिंध का शासक बन बैठा। अल्दोज़ ने गजनी में सत्ता धारण की। गोरी-वंश का शासन, इस प्रकार, पश्चिमी अफगानिस्तान तक सीमित होकर रह गया और १२१५ ईसवी में ख्वारिज़्म के शासक की सेना ने, यहाँ से भी उसके पाँव उखाड़ दिए।

भारत में उसका कार्य

मिन्हाजुल सिराज नामक एक तत्कालीन इतिहासलेखक ने, जिसने दास-राजाओं के काल में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, मुहम्मद गोरी की उदार हृदयता और उसके विद्या-प्रेम की प्रशंसा की है।

सुलतान महमूद के मुकाबले में वह कम जोशीला था। अपने भारत-जीवन में, प्रारम्भ से ही, एक स्थायी राज्य के निर्माण की ओर उसने ध्यान दिया था। नियमित शासन व्यवस्था के द्वारा उसने विजित प्रदेशों को संगठित करने का प्रयत्न किया। हिन्दुस्तान के सुन्दरतम भाग को अपने अधिकार में कर लिया था और उसे हम, सच्चे अर्थ में, भारत में मुस्लिम साम्राज्य का निर्माता कह सकते हैं। यद्यपि उसकी आकांक्षाएँ, अधिकतर पश्चिम की ओर ही केन्द्रित थीं, फिर भी उसने भारत में जो काम किया वह ठोस था। उसका लगाया हुआ पौदा कुतुबुद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों के हाथों फूला और फला। कुतुबुद्दीन को उसके मालिक ने भारत में मुस्लिम राज्य के विस्तार का भार सौंपा था और उसने, दिल्ली में, मुसलमानी राज्यवंश की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। गोरी की योजना यहाँ स्थायी राज्य स्थापित करने की थी जो उसके सेनापति और उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन के हाथों अच्छी तरह फलीभूत हुई।

———

तीसरा परिच्छेद

दास राजवंश—भारतीय मुस्लिम साम्राज्य का उत्थान (१२०६—९०)

[१]

कुतुबुद्दीन और अल्तमश

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक,* जिसे गोरी ने दिल्ली में अपना वाइसराय नियुक्त किया था, एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ और गोरी के उत्तराधिकारी से, इस स्वतंत्र राज्य के लिए, उसने स्वीकृति भी प्राप्त कर ली। उसने सिर उठाया, और वह इतना शक्तिवान था कि उसने अपने बराबर के अन्य दास-शासकों को अपने प्रभुत्व में कर लिया। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए उसने इन दास-शासकों से विवाह-सम्बंध भी स्थापित किए। गज़नी के दास-शासक ताजुद्दीन अल्दोज़ की कन्या से विवाह किया, सिंध के दास-शासक नसीरुउद्दीन कुबैच से अपनी बहन का विवाह किया, और

---

* फारस में निशातपुर नामक एक जगह है। कुतुबुद्दीन वहीं का एक दास था। मोहम्मद गोरी के काल में वह उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता गया और अन्त तक उसने अपनी स्वामिभक्ति का निर्वाह किया। दिल्ली की विजय के समय से हिन्दुस्तान में अपने स्वामी के वाइसराय के रूप में उसने शासन की बागडोर संभाली। अपने स्वामी के साथ, राज्य के विस्तार में, उसने भी योग दिया। इन विजित प्रदेशों को व्यवस्थित रूप से संगठित करने का भार उसी के कंधों पर पड़ा और उसने यह कार्य सफलता के साथ किया। उसका सरनाम ऐबक था,। सम्भव है, उसका असली नाम यही हो। कुछ लेखकों का कहना है कि उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि वह कमज़ोर या टूटी उंगलियों वाला था। देखिए तबकातेनसीरी, रावर्टी द्वारा अनुवादित, बिबलिओथे का इंडिका, १८८१ पृष्ठ ५१३ नोट १ और थामस कृत 'दी क्रॉनीकिल्स आफ दि पठान किंग्स ऑफ देहली पृष्ठ ३२।

एक प्रतिभावान दास शम्सुद्दीन अल्तमश से अपनी कन्या का विवाह कर दिया।

बख्तियार खिलजी के उत्तराधिकारी को कुतुबुद्दीन ने मान्यता प्रदान कर उसे अपना बना लिया। अल्दोज़ ने जब कुबैचा पर चढ़ाई की और उसे मुलतान से खदेड़ दिया तो कुतुबुद्दीन ने अल्दोज़ के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और उसे तीन तेरह कर स्वयं गज़नी में, विजेता के रूप में, प्रवेश किया (१२०८-९ ईसवी)। लेकिन कुतुबुद्दीन की यह सफलता दीर्घकालिक सिद्ध नहीं हुई और उसे पीछे हट कर लाहौर चला आना पड़ा। कुतुबुद्दीन के प्रतिद्वन्दी के आकस्मिक आक्रमण के कारण ऐसा हुआ।

इस प्रकार कुतुबुद्दीन ही दिल्ली के साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। उसे हम भारत का पहला स्वतंत्र मुसलमान शासक कह सकते हैं। उसकी अपनी योग्यता, भारत के साथ उसका दीर्घ सम्बन्ध, दिल्ली की प्रतिष्ठा और ख्याति जो पृथ्वीराज के समय से लेकर अब तक बनी हुई थी और अफगान के सीमावर्ती प्रदेशों का दिल्ली से नैकट्य, सेना में अधिकतर अफगानों का ही भर्ती किया जाना,- इन्हीं सब कारणों से दिल्ली को ही हिन्द-मुस्लिम साम्राज्य की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

उसका शासन (१२०६—१०)

स्वतंत्र सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद कुतुबुद्दीन ने समूचे हिन्दुस्तान पर अपना प्रभुत्व फैलाने का प्रयत्न किया—दिल्ली से कालिंजर और गुजरात और लाहौर से लखनौती तक। लेकिन उसका साम्राज्य, अधिकांशतः, उसके व्यक्तित्व की निजी श्रेष्ठता पर टिका हुआ था। उसके अन्य साथी दास-शासक आगे बढ़ने के इच्छुक नहीं थे और उसके साम्राज्य के दूरस्थित प्रदेश अब भी उसके प्रभुत्व को पूरी तरह स्वीकार नहीं करते थे।

इतिहास-लेखकों ने कुतुबुद्दीन के शासन की बड़ी प्रशंसा की है। एक ने लिखा है कि परमात्मा ने उसे इतनी उदारता और इतना साहस प्रदान किया था कि, पूर्व से पश्चिम तक, उस काल के किसी दूसरे शासक से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।* उसी

* मिन्हाजुस सिराज लिखित तबकाते नासिरी। मिन्हाज गोर से लगभग

काल के एक दूसरे इतिहास-लेखक हसन निज़ामी ने न्याय पर आधारित उसके शासन और उसके दयापूर्ण हृदय का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसके शासन में भेड़ और भेड़िया एक ही घाट पानी पीते थे †—दूसरे शब्दों में यह कि हिन्दू और मुसलमान मेल-मिलाप के साथ रहते थे।

भारत के मुसलमान विजेताओं में कुतुबुद्दीन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने दो मसजिदें बनवाई थीं—एक दिल्ली में और दूसरी अजमेर में। नष्ट मन्दिरों के सामान से ये मसजिदें बनी थीं। लाहौर में चौगान (पोलो) खेलते समय घोड़े से गिर जाने के कारण १२१० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अल्तमश का कार्य

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद साम्राज्य की विच्छिन्नता, जिसे वह रोके हुए था, तेज़ गति से बढ़ने लगी। उसका निर्बल पुत्र, जिसका नाम आराम था, एक ही वर्ष में गद्दी से उतार दिया गया। उसे सिंहासनच्युत करने में बदायूँ के गवर्नर अल्तमश या इल्तुतमिश का हाथ था। कुबैचा ने भी अपने को सिंध में स्वतंत्र घोषित कर दिया और गज़नी में अल्दोज़ की शक्ति तो सर्वोपरि थी ही। लाहौर के प्रदेश पर अल्तमश, कुबैचा और अल्दोज़ के बीच द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। कितने ही मुअज़्ज़ी और कुतबी अमीरों ने (जिनका अस्तित्व गोरी और कुतुबुद्दीन के कारण सम्भव हुआ था) अल्तमश के उत्थान और उत्तराधिकार को पसन्द नहीं किया, क्योंकि वह 'दास का भी दास' था और उसने अत्यन्त नीचे स्तर से उठकर कुतुबुद्दीन के काल में, तेज़ी के साथ, अग्रतम अमीर का पद प्राप्त कर लिया था।

१२२७ ईसवी में भारत आया था और उसने अपने ग्रंथ का नाम अपने संरक्षक सुलतान नासिरुद्दीन के नाम पर रखा था (देखिए इलियट और डासन कृत 'हिस्ट्री आफ इंडिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खंड दो, पृष्ठ २६८।)

† हसन निज़ामी कृत ताजुलमआसीर (इलियट और डासन, खंड दो) हसन निज़ामी ने अपने ग्रंथ की रचना १२०५ ईसवी में शुरू की थी और कुतुबुद्दीन के काल में भारत में था।

अल्तमश ने शीघ्र ही दिल्ली के अमीरों के समस्त विरोध पर काबू पा लिया और प्रभुत्व का विस्तार करने में—एक ओर शिवालिक पर्वतों तक और दूसरी ओर बनारस तक—सफलता प्राप्त की। इसके बाद अल्दोज़ का दमन करने का महान् कार्य किया। अल्दोज़ ने पंजाब में अपनी शक्ति को दृढ़ता के साथ जमा लिया था। लेकिन वह चिन्ताओं से मुक्त नहीं था। उत्तर में ख्वारिज़्म के शाह और दक्षिण में कुबैचा की सेनाओं ने चढ़ाई कर दी। अतः अल्तमश ने, १२१५ ईसवी में, तराइन के मैदान में, उसे निश्चित रूप से पराजित कर बन्दी बना लिया और इसके बाद शीघ्र ही उसे मरवा डाला। १२१७ ईसवी तक अल्तमश ने कुबैचा को भी लाहौर से खदेड़ कर बाहर कर दिया, यद्यपि इसके बाद भी कई वर्षों तक उसके उपद्रव जारी रहे।

इसी बीच सुलतान के सामने एक नया खतरा उठ खड़ा हुआ। यह खतरा मंगोल आक्रमणों के रूप में उत्पन्न हुआ था। ये मंगोल क्रूर चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में आगे बढ़ रहे थे।

मंगोल पूरे जंगली और धर्मविहीन थे। पूरी दो शतियों तक वे दिल्ली के शासकों के लिए, उत्तर-पश्चिमी सीमा पर, खतरे और चिन्ता का कारण बने रहे।

मंगोलों का भयानक खतरा

मंगोल आक्रमण भी उसी सिलसिले की एक कड़ी है जिसका प्रारम्भ इतिहास के उदय-काल से होता है। परिस्थितियों से बाध्य होकर पूर्वी और मध्य एशिया से कबीलों का प्रयाण प्रारम्भ से ही होता है। अब चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में मंगोलों के दल बढ़ रहे थे और समूचे मध्य एशिया, फारस और पश्चिमी एशिया में इसलाम की संस्कृति के लिए वे खतरा बन गए थे। हिन्दुस्तान से लूट कर ले आया गया बहुत-सा धन इन प्रदेशों में संचित हो गया था। इस लूट के माल को लूटने के लिए चंगेज़ खाँ और उसके दल आगे बढ़ रहे थे।*

---

* चंगेज़ खाँ (११६२-१२२७) का मूल नाम तेमुजिन था। ११७५ में उसने तातार दलों का प्रभुत्व ग्रहण किया और ११८६ से उसकी विजय यात्रा

शाह ख्वारिज़्म के राज्य को उन्होंने रौंद डाला। उनके आगमन का चिन्ह प्रकट होते ही अल्दोज़ भाग कर भारत चला आया। आगे आगे वह था और पीछे-पीछे उसकी खंडित सेना जिसका पीछा क्रूर मंगोल कर रहे थे। अन्तिम ख्वारिज़्म शाह जलाल-उद्दीन को, इस प्रकार, चंगेज़ खाँ ने सिन्धु नदी तक, और इसके बाद सिंध देश तक, खदेड़ दिया (१२२१ ईसवी)।

अनुकूल परिस्थितियाँ

अल्तमश ने भगोड़े शाह को शरण देने से इन्कार कर दिया। भारत के सौभाग्य से शाह तब कुबैचा से भिड़ गया और सिंध की लूट पाट करता हुआ फारस पहुँचा। इस प्रकार इस शाह ने भारत और मंगोलों के बीच रोक का काम किया और मंगोलों ने जो संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी थी, उस से बिना किसी खरोंच के अल्तमश बाहर निकल आया। किन्तु जो शाह कुबैचा पर टूट पड़ा था उससे कुबैचा की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। गरम देश का वातावरण सह्य न होने के कारण मंगोलों की हिम्मत नहीं हुई कि सिन्धु नदी के पूर्व में और आगे बढ़ सकें। अतः अल्तमश अब इस स्थिति में था कि अपने शेष प्रतिद्वन्द्वियों से निपट सके। १२२५ में उसने बंगाल के काबू-से-बाहर गवर्नर गयासउद्दीन को, जिसने जाजनगर (उड़ीसा), कामरूप (आसाम) और तिरहुत (उत्तरी-बिहार) पर आक्रमण कर दिया था, और जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने लगा था, आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। इसके दो वर्ष बाद अल्तमश ने, अपने पुत्र को सेना के साथ बंगाल के गवर्नर तथा अन्य विद्रोही सरदारों को दंडित करने के लिए रवाना किया। इसके बाद ही उसे एक बार और सैनिक कार्यवाही करनी

शुरू हुई। १२१९ तक उसने चीन और समूचे तातार प्रदेश पर विजय प्राप्त करली। इसके बाद एक ओर ख्वारिज्म, खुरासान और अफगानिस्तान पर और दूसरी ओर जार्जिया, उत्तरी फारस और दक्खिनी रूस पर उसने अपना प्रभुत्व कर लिया। १२२७ में उसकी मृत्यु हुई। उसके और उसके पुत्रों द्वारा विजित प्रदेश पीले सागर से एक जाइन तक फैला हुआ था) लेनपूल लिखित दि मुस्लिम डाइनैस्टीज (१८१४ पृ० २०४)

पड़ी। कुछ समय बाद उसने सिंध पर भी चढ़ाई की और कुबैचा को भागने के लिये बाध्य कर दिया। भागते समय नदी में डूब कर कुबैचा की मृत्यु हो गई।

मालवा और मध्यभारत पर आक्रमण

मालवा और बुन्देलखंड के विरुद्ध भी अल्तमश ने चढ़ाई की। १२२६ ईसवी में रणथम्भोर का सुदृढ़ दुर्ग उसके अधिकार में आ गया। १२३२-३३ में ग्वालियर और उज्जैन के दुर्गों पर भी उसका अधिकार हो गया। महाकाल के मन्दिर को उसने निर्दयता के साथ नष्ट कर डाला। भारत के सुलतान की सनद उसे १२२८ में ही बगदाद के खलीफा की ओर से प्राप्त हो चुकी थी। खलीफा, शक्ति-विहीन होने पर भी, इसलामी जगत में सबसे ऊँचा स्थान रखता था। उसकी सनद ने अल्तमश की स्थिति को जायज़ बना कर भारत के हिन्द-इसलामी साम्राज्य की प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि कर दी। इस सनद का काफ़ी बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। बगदाद के खलीफा की घोषणा ने उन विरोधियों का मुँह बंद कर दिया जो अल्तमश को दिल्ली के सिंहासन का जायज़ अधिकारी नहीं समझते थे।

बगदाद के खलीफा की सनद के बाद से अल्तमश ने सिक्कों पर, अन्य उपाधियों के अलावा, 'बानिये इसलाम का सहायक' भी अंकित करवाना शुरू कर दिया। भारत में सबसे पहले उसी ने अरबी सिक्कों को चलाया और चाँदी के 'तनका' (टन्क) को स्टैण्डर्ड मुद्रा स्थिर किया। 'टन्क' को हम आधुनिक रुपये का पूर्वज कह सकते हैं। इसका वज़न १७५ ग्रेन होता था।*

---

*ग़ज़नी के महमूद तथा उसके उत्तराधिकारियों ने इससे पहले जो सिक्के चलाये थे, उन पर संस्कृत लिपि का प्रयोग होता था या वृषभ और घोड़े के आकार की छाप होती थी। देशी तज़नों और दो भाषाओं का प्रयोग हिन्दुओं की सुविधा को लक्ष्य में रख कर, किया जाता था। अल्तमश ने अनेक प्रकार के 'टन्क' जारी किये थे (देखिए सी० जे० ब्राउन कृत 'दि काएन्स आफ इंडिया पृष्ठ ७०; और ए० ए० मैकडानल कृत 'इंडियाज़ पास्ट' (१९२७) पृष्ठ २६८-२६९

अल्तमश के शासन का दृढ़ पहलू

कुछ बाहरी प्रदेशों को छोड़ कर समूचा हिन्दुस्तान अल्तमश के राज्य में सम्मिलित था। वही वास्तव में दास-वंश का संस्थापक और दिल्ली की बादशाहत को संगठित कर उसकी नींव दृढ़ करने वाला था। वह महान् योधा था। जीवन-भर सैनिक कार्यों में व्यस्त रहा। लेकिन साथ ही विद्वानों और खुदा की राह पर चलने वालों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन देने के लिए भी उसके पास समय की कमी नहीं रहती थी। वह खुद एक सच्चा और भला मुसलमान था। दिल्ली में कुतुबमीनार बनवाने का श्रेय उसी को दिया जाता है— जो, अपनी महती शान और डिजाइन के सौन्दर्य में अद्वितीय है और जो उसकी महानता की जीवित स्मृति के रूप में आज तक मौजूद है।*

उस काल के इतिहास-लेखक मिन्हाजुल सिराज ने अल्तमश के अच्छे और दृढ़ शासन की प्रशंसा की है। छब्बीस वर्ष तक उसने शासन किया। दास-बादशाहों में वह सबसे महान माना जाता है। अपने पूर्वाधिकारियों के राज्य में उसने सिंध और मालवा के प्रदेशों की वृद्धि की। उसने जो कुछ भी प्राप्त किया, अपने ही बल पर प्राप्त किया और काफी कठिनाइयों और विरोधों के होते हुए प्राप्त

* कुतुब मसजिद और मीनार कुतुबुद्दीन और अल्तमश के शासन-काल में बनवाए गए थे। नष्ट किए गए मन्दिरों की सामग्री से इनका निर्माण किया गया था। कुछ लेखकों का कहना है कि मीनार को स्वयं कुतुबुद्दीन ने ही बनवाया था। लेकिन अल्तमश को इसका निर्माता मानना सही है। चौथी शती के अभिलेख से अंकित, वहाँ एक लौहस्तम्भ भी है। यह स्तम्भ कुतुबी मसजिद के आँगन में स्थित है। इस स्तम्भ को सम्भवतः मुसलमानों ने इस जगह स्थापित किया था। एक अधिकारी विद्वान के अनुसार मीनार को १२३१-३२ में, सन्त ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की स्मृति में बनवाया गया था। अल्तमश इस संत का बहुत आदर करता था। अतः कुतुब मीनार का सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक के नाम के साथ कोई सम्बंध नहीं है। देखिए कैम्ब्रिज हिन्दी आफ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ ५५; और ईश्वरी प्रसाद की पुस्तक में पृष्ठ १४२ पर दिया गया नोट १; जे० ए० पेज कृत 'एन हिस्टारिकल मेमायर आन दि कुतुब, दिल्ली (१९२६) पृष्ठ ६-१०]

किया। अपनी उदारहृदयता के लिए भी उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। सचमुच वह अद्भुत रूप से उदार था।

[२]

अव्यवस्था और अराजकता—बलबन द्वारा पुनर्संगठन (१२३६-१२८०)

अल्तमश की मृत्यु के बाद दस वर्ष तक अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य रहा। इस बीच राज्यमुकुट, अल्तमश के वंशधरों में, इधर-से-उधर हस्तान्तरित होता रहा। सुलतान की योग्य पुत्री रज़िया ने सिंहासन पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की और तीन वर्ष तक शासन करती रही। अपने निकम्मे पुत्रों के मुकाबले, रज़िया की प्रतिभा और साहस को देख कर, स्वयं सुलतान उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गए थे। १२३६ से १२४० ईसवी तक सिंहासन पर रज़िया का अधिकार रहा। अपने शासन-काल में, उसने अनेक प्रकार से, अपनी योग्यता और सामर्थ्य का परिचय दिया। तत्कालीन इतिहास-लेखकों के शब्दों में—"एक शासक के योग्य सभी गुण उसमें मौजूद थे। उसमें अगर दोष था तो यही कि लड़का न होकर वह लड़की थी। अतः पुरुषों की दृष्टि में, सब कुछ होते हुए भी, वह कुछ नहीं थी।"*

अपने अमीर आखोर (अस्तबल के अफसर) के प्रति उसका विशेष झुकाव था। वह अबीसीनिया का रहने वाला एक दास था। एक हब्शी दास को अमीर आखोर (अस्तबल का अफसर) बना देने के कारण रज़िया के विरुद्ध तुर्की कुलीनों का रोष जाग्रत हुआ। उन्हें असन्तोष तो पहले से ही था। क्योंकि राज्य की शक्ति मामलूक अधिकारियों के हाथ में चली गई थी और वे वंचित रह गये थे। उनमें से एक, सिरहिन्द के शासक अल्तूनिया ने, विद्रोह का नेतृत्व किया। चतुर रज़िया ने उसे अपनी ओर कर उससे विवाह कर लिया। लेकिन विद्रोह इससे सर्वथा शान्त न हो सका और अन्त में विद्रोहियों ने रज़िया तथा उसके पति दोनों को

---

* मिन्हाजुल सिराज का कथन, इलियट और डासन के ग्रंथ, खंड २, पृष्ठ ३३१ पर उद्धृत;—रावर्टी के अनुवाद, पृष्ठ ६३८ को भी देखिए।

गिरफ्तार कर मार डाला और सिंहासन पर उसके एक भाई को बैठा दिया (१२४० ईसवी)।

अलतमश के शासन-काल में ही प्रमुख तुर्की अमीरों ने आपस में मिलकर एक घनिष्ठ संगठन बना लिया था। यह संगठन चालीस अमीरों के गुट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साम्राज्य की सभी बड़ी जागीरों पर उनका अधिकार था। साथ ही बड़े-बड़े ओहदों पर भी उन्होंने अपना कब्जा कर रखा था। अलतमश ने तो, किसी-न-किसी प्रकार, अपने साम्राज्य को उनकी आँच से सुरक्षित रखा, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद तुर्की सरदार नियंत्रण-विहीन हो गए और उनकी शक्ति बढ़ने लगी। रज़िया के सिंहासनच्युत होने का कारण यही था कि उसने तुर्की अमीरों में से किसी एक को चुन कर एक बाहरी व्यक्ति को—अबीसीनिया के एक दास को—अपने पक्षपात का पात्र बनाया। उसके बाद जो व्यक्ति सिंहासन पर बैठा, वह तुर्की अमीरों का ही चुना हुआ था—उन्हीं का नामलेवा था। नाम मात्र के शासक के रूप में अलतमश वंश के किसी भी व्यक्ति को वे स्वीकार कर सकते थे। उन्हें चिन्ता केवल इस बात की थी कि समूची शक्ति उन्हीं के हाथों में रहे।

अव्यवस्था का काल १२४०—१२४६ ईसवी

नया सुलतान बहरामशाह अभी दो ही वर्ष शासन कर पाया था कि उसकी हत्या कर दी गई। इस हत्या से उत्पन्न अराजकता में मुगलों के आक्रमण और लाहौर पर उनके आधिपत्य ने और भी वृद्धि कर दी। सेना में पूरी तरह से विक्षोभ फैल गया था। अलतमश के पौत्र अलाउद्दीन मसऊद ने शक्ति अपने हाथ में संभाला। प्रारम्भ में उसने कुछ उत्साह और चेतनता का परिचय दिया, लेकिन शीघ्र ही एक निरंकुश शासक बन कर रह गया। विक्षुब्ध सरदारों ने उसे पकड़ कर बन्दीघर में डाल दिया और उसकी जगह पर अलतमश के एक दूसरे पुत्र नसीरुद्दीन महमूद को सिंहासन पर बैठाया (१२४६ ईसवी)। इसी उथल-पुथल के बीच मंगोल दल के फिर से आने से हालत और बुरी हो गई। उन्होंने, १२४१ ईसवी में, लाहौर पर अधिकार कर लिया। इसके चार वर्ष बाद मंगोलों ने उच्छ पर चढ़ाई की और चंगेज़ खां के एक पौत्र

मंगू खाँ ने पश्चिमी पंजाब और सिंध को लूट पाट कर बराबर कर दिया। * तिब्बत के रास्ते बंगाल पर भी इन्होंने एक बार आक्रमण किया। सिन्धु के पश्चिम प्रदेश पर इन्होंने स्थायी रूप से अधिकार कर लिया और इनके आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा करने का प्रश्न सब से अधिक आवश्यक हो उठा।

सुलतान नासिरुद्दीन १२४६-१२६६ ईसवी

नया सुलतान नासिरुद्दीन एक विनम्र और धार्मिक वृत्ति का आदमी था। वह मिलनसार भी था। इसी से वह अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख सका। अपनी संयम शीलता और मितव्ययिता के लिए इतिहास-लेखकों की दृष्टि में वह बहुत ऊँचा उठ गया। उन्होंने उसकी सादगी और धार्मिकता की विशेष प्रशंसा की है। †

उथल-पुथल के उस काल के लिए वह उपयुक्त शासक नहीं था। लेकिन उसका मंत्री गयासुद्दीन बलबन बहुत योग्य था। वास्तव में नासिरुद्दीन के काल में वही शासन करता था और नासिरुद्दीन के बाद उसी ने सुलतान के पद को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार, पूरे चालीस वर्ष तक, बलबन ने हिन्दुस्तान का शासन

---

* मंगोल-परिपाटी के अनुसार चंगेज़ खाँ का साम्राज्य उसके पुत्रों में बँटा हुआ था। मंगू खाँ का राज्य फारस से मंगोलिया तक विस्तृत था। १२५७ ईसवी में उसकी मृत्यु हुई। उसका उत्तराधिकारी खूबीलाई हुआ। वह चीन का भी स्वामी था और सभी तातारों का महान् खान बन गया था। सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो ने जिस महान् खान का जिक्र किया है वह यही था। कोलरिज की रचना कुबला खाँ का नायक भी वही है।

† इतिहास-लेखक मिनहाज उसी के संरक्षण में रहता था। मिनहाज ने उसके गुणों और उदार हृदयता की विशेष प्रशंसा की है। लेकिन बाद के एक दूसरे इतिहास-लेखक ज़ियाउद्दीन बरनी का कहना है कि यद्यपि वह दयालु और ईश्वरभक्त शासक था, लेकिन उसका अस्तित्व एक कठपुतली के समान था और बलबन, उलुगखाँ उसके कितने ही राज्य चिन्हों का प्रयोग करता रहा। सुलतान, प्रायः पूर्ण रूप से, दुनिया से अलग और बेखबर रहता था।

किया—बीस वर्ष सुलतान के वज़ीर की हैसियत से और बीस वर्ष सुलतान के रूप में।

इतिहास-लेखक मिनहाज ने बलबन के उत्थान और उसकी विशेषताओं का विस्तार के साथ वर्णन किया है। वह तुर्किस्तान में अलबारी नामक स्थान का रहने वाला था। १२३२ में, अल्तमश ने उसे खरीद कर अपना दास बना लिया। रज़िया के शासन काल में उसने 'अमीरे शिकार' का पद ग्रहण किया। रज़िया के उत्तराधिकारी के काल में वह अमीरे आखोर और रीवाड़ी तथा हाँसी का शासक बन गया। यह पद उसे रज़िया के दल के दमन में अपनी प्रतिभा दिखाने के कारण प्राप्त हुआ था। इसके बाद उसने मंगोलों के विरुद्ध, जिन्होंने १२४५ में सिंध पर आक्रमण किया था, लोहा लिया और उन्हें उच्छ का घेरा हटा लेने के लिए बाध्य किया। नासिरुद्दीन ने शीघ्र ही उसकी महान् योग्यताओं को परखा और उसे अपना वजीर बना लिया, उसे उलुग खाँ की उपाधि प्रदान की (१२४९) और अपनी लड़की के साथ उसका विवाह कर दिया। इसके बाद उसकी सेवाओं ने और भी महत्व ग्रहण कर लिया और वह सलतनत का एक प्रमुख अङ्ग बन गया।

बलबन की सैनिक सेवाएँ

सबसे पहले उसने खोखरों और पच्छिमी पंजाब के अन्य फिरकों का, जो मंगोलों की बहुधा सहायता करते रहते थे, दमन किया। दोआब के विद्रोही हिन्दू सरदारों के विरुद्ध भी उसने चढ़ाई की और मेवात तथा रणथम्भोर की लूट-मार करने के बाद ग्वालियर, चन्देरी और नरवर पर सफल आक्रमण किया (१२४६-१२५२ ईसवी)। इस प्रकार उसने पच्छिम में मुलतान और उच्छ तक के समूचे प्रदेश में उठने वाली विद्रोही शक्तियों का दमन कर उन्हें शान्त कर दिया।

इसके बाद, कुछ काल के लिए, बलबन सुलतान की कृपा दृष्टि से वंचित हो गया। उसकी बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव ने तुर्की अमीरों तथा दूसरे लोगों के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न कर दी थी और वे दिन-रात उसके विरुद्ध सुलतान के कान भरते रहते थे। नतीजा यह हुआ कि सुलतान ने उसे अधिकारच्युत कर दिया।

उसके निकलते ही राज-कार्य में अव्यवस्था ने घर करना आरम्भ कर दिया। एक इतिहास-लेखक के शब्दों में—"राज का कार्य और शान्ति अस्त-व्यस्त हो गई।"

बलबन के स्थान पर एक अवसरवादी नौ मुसलमान को—जो हाल ही हिन्दू से मुसलमान बना था—वज़ीर बना दिया गया। उसकी अव्यवस्था के प्रति तुर्की कुलीनों में तेजी से असन्तोष घर करने लगा और बलबन को फिर से, बिना किसी विलम्ब के, १२५४ में वज़ीर बना दिया गया। जनता इस घटना से अत्यन्त प्रसन्न हुई और वर्षा भी, जो मानो अभी तक बलबन की नियुक्त के लिए ही रुकी हुई थी, खुल कर हुई और धरती के सारे ताप को उसने सोख लिया।

बलबन ने दूने उत्साह से, विद्रोही सरदार और अमीरों का दमन शुरू किया और अवध तथा सिंध के सूबेदारों के साथ सख्ती के साथ पेश आया। सिंध पर मंगोलों के एक आक्रमण को उसने पीछे ढकेल दिया और मेवात के प्रदेश को लुटेरों के उत्पात से मुक्त कर दिया। यह लुटेरे कई वर्षों से मेवात पर छाये हुए थे।

सुलतान के पद पर

बलबन ने मंगोलों से समझौता कर लिया। इसके अनुसार उन्होंने आश्वासन दिया कि अब वे आक्रमण नहीं करेंगे। १२२६ में नासिरुद्दीन की मृत्यु के बाद, सुलतान के सिंहासन पर बैठ कर उसने अपनी सफलताओं का अभिषेक किया। वजीर की हैसियत से अपने शासन-काल में उसने मंगोलों को रोक रखने में सफलता प्राप्त की थी। इसी बीच उसने अपनी सीमाओं को दृढ़ कर सुरक्षित बना लिया, योग्य सेना का संगठन किया और तुर्की अमीरों तथा हिन्दू सरदारों के विद्रोह को शान्त कर दिया। इस प्रकार उसने अव्यवस्था और बाहरी आक्रमणों से सलतनत की एकता और शक्ति को सुरक्षित कर लिया। अब, सुलतान होने के बाद, उसका प्रमुख काम था अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित कर शासन-व्यवस्था को फिर से संगठित करना।

सेना और शासन का पुनर्संगठन

बलवन ने अपने राजवंश की स्थापना का निश्चय कर लिया था। इसके लिए आवश्यक था कि वह सरदारों की उस संघ-शक्ति का भी नाश करे जो इतने दिनों से राज्य की कमजोरी और अराजकता का कारण बनी हुई थी। उसने 'सिंहासन को एक नयी चमक प्रदान करने में सफलता प्राप्त की, शासन-प्रणाली को सुव्यवस्थित किया और जो संस्थाएँ क्षत-विक्षत या, नष्ट हो गई थीं, उन्हें फिर से अपने पाँव पर खड़ा किया।' योग्य कमानों के हाथ में उसने सेना की बागडोर सौंपी, हाथियों और घोड़ों के दस्तों में वृद्धि की और दिल्ली के आसपास के प्रदेश को सहज ही जंगलों और उसके डाकुओं से मुक्त कर दिया।

न्याय के मामलों में वह कठोरता और निष्पक्षता से काम लेता था। अमीरों और अधिकारियों के कृत्यों की देख-भाल रखने के लिए उसने गुप्तचर-विभाग को संगठित किया जिससे वे जनसाधारण का शोषण न कर सकें। उसने गुप्तचर नियुक्त किए जो स्थानिक अधिकारियों के नियंत्रण से मुक्त, स्वतंत्र रूप में, काम करते थे और जहाँ कहीं भी कोई गलत बात होती, सुलतान को उसकी सूचना देते थे। बड़ी सावधानी के साथ स्वयं सुलतान इन गुप्तचरों को चुनते थे।

दोआब के प्रदेश को जंगलों से मुक्त कर नयी सड़कों का निर्माण किया और इनकी रक्षा के लिए सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त कर दीं। इस प्रकार उसने व्यापार की वृद्धि में योग दिया। विद्रोहियों को वह अत्यन्त कठोर दंड देता था। सैनिक जागीरदारों—विशेष रूप से शम्सी दास-अमीरों—पर वह सख्त निगाह रखता था। शम्सी अमीर ऐशोआराम में पड़कर अपने सैनिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते थे। सुलतान इतना सख्त था कि उसने अपने भतीजे शेरशाह को भी नहीं बख्शा जो पश्चिमी मोर्चे का संरक्षक था, जो मंगोलों की बाढ़ रोकने में सफल हुआ था और जिसके नाम से जाट, खोखर तथा अन्य विद्रोही फिरके थरथर काँपते थे।

सिंहासन की प्रतिष्ठा

बलबन शान-व-शौकत और प्रतिष्ठा का बहुत ध्यान रखता था। सिंहासन के गौरव और मर्यादा को कायम रखने में उसकी जोड़ का दूसरा शाह सहज ही नहीं मिलेगा। मद्यपान-आदि अनेक व्यसनों को उसने छोड़ दिया था। निम्नवंश के लोगों के साथ वह सम्पर्क नहीं रखता था। सूबेदारों और अमीरों के लिए उसका व्यक्तित्व एक अनुकरणीय उदाहरण था।

दो समस्याओं की ओर बलबन का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहता था—एक तो मंगोलों के आक्रमण का खतरा, दूसरे सूबेदारों के विद्रोह का भय। संकटापन्न प्रदेशों का शासनभार उसने अपने पुत्रों—शाहजादा मुहम्मद और बुघरा खाँ को सौंप दिया था। मुलतान और समाना के सूबों का वह विशेष रूप से ध्यान रखता था, क्योंकि मंगोलों के आक्रमणों का खतरा इन सूबों के लिए अधिक था।

१२७९ से मंगोलों ने अपने आक्रमण फिर से शुरू कर दिये थे। मुलतान के खान शाहजादा मुहम्मद ने अपने कर्त्तव्य का तत्परता से पालन किया और बर्बर आक्रमकों को, जितनी बार उन्होंने धावा किया, उतनी ही बार मार भगाया। किन्तु, १२८५ में, मंगोलों के नेता सामर के विरुद्ध युद्ध में, वह मारा गया।* वृद्ध सुलतान को

---

* योग्यता और कार्यक्षमता के कारण सुलतान ने शाहजादा मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। वह एक सुसंस्कृत और साहित्यिक अभिरुचि का आदमी था। सुप्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो (१२५३—१३२५ ईसवी) को उसने अपने यहाँ रखा था। शाहजादा की मृत्यु के समय मंगोलों ने अमीर खुसरो को अपना बन्दी बना लिया और, काफी कठिनाइयों के बाद, उसे मुक्त किया। खुसरो ने शाहजादा की मृत्यु पर एक मर्सिया लिखा जिसमें उसने मंगोलों का चित्रमय वर्णन किया है—" वे कुत्तों की औलाद हैं। उनके खूंख्वार चेहरों को देख कर शाह ने कहा था कि खुदा ने इन्हें दोजख की आग में से बनाया है। वे श्वेत राक्षसों के झुंड के समान मालूम होते थे और उन्हें देखते ही लोग, भय के मारे, भागने लगते थे।" (देखिए इलियट और डासन, खंड ३,—परिशिष्ट पृष्ठ—५२९) अमीर खुसरो की मृत्यु उसके संरक्षक संत

उसकी मृत्यु से बहुत बड़ा आघात लगा। इस आघात ने सुलतान की मृत्यु को और निकट ला दिया।

बलबन की नीति पर मंगोलों के भय का गहरा प्रभाव पड़ा था। अगर मंगोलों का भय न होता तो वह गुजरात पर विजय प्राप्त करता और मालवा को अपने साम्राज्य में मिला लेता। लेकिन मंगोलों के भय के कारण वह दिल्ली न छोड़ सका। उसे भय था कि उसकी अनुपस्थिति में कहीं दिल्ली की भी बगदाद जैसी स्थिति न हो जिसे आक्रमकों ने नष्ट कर दिया था। अतः वह किसी दूर स्थित प्रदेश को जीतने की बात सोच भी नहीं सकता था। अपनी राजधानी दिल्ली में या उसके आसपास रह कर, सेना को उच्चकोटि के संगठन और अनुशासन के द्वारा अत्यन्त शक्तिशाली और सक्षम बनाने में ही वह लगा रहा और किसी भी दूरस्थित प्रदेश पर चढ़ाई करने के लिए आगे नहीं बढ़ा—दिल्ली को उसने नहीं छोड़ा।

केवल एक ही बार बलबन को, सैनिक कार्य के लिए, दिल्ली से दूर जाना पड़ा। बंगाल के सूबेदार तुगरील खान ने सुलतान की उपाधि धारण कर ली और अपने को दिल्ली की सलतनत से स्वतंत्र घोषित कर दिया। उसी के विरुद्ध बलबन को कार्यवाही करनी पड़ी। अवध से एक प्रारम्भिक कार्यवाही के असफल होने के बाद खुद सुलतान ने, भारी वर्षा के दिनों में, लखनौती की ओर प्रयाण किया और जाज नगर पर, जहाँ विद्रोही सूबेदार भाग कर छिप गया था, धावा किया। तुगरील की सेना इसके लिए तैयार नहीं थी और वह सहज ही तितर-बितर हो गई। सुलतान ने विद्रोही सूबेदार के सम्बन्धियों तथा अन्य साथियों को कठोर दंड दिया—इतना कठोर दंड हिन्दुस्तान में पहले अन्य किसी बादशाह या विजेता ने नहीं दिया था।

इसके बाद बलबन ने शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। अपने दूसरे पुत्र बुगरा खाँ को सूबेदार

निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु के शीघ्र बाद ही, १३२५ ईसवी में, हो गई। (संक्षिप्त जीवनी के लिए देखिए अलीगढ़ विश्वविद्यालय से प्रकाशित मुहम्मद हबीब लिखित अमीर खुसरो की जीवनी।)

बना दिया और उसे चेतावनी दी कि दिल्ली के विरुद्ध कभी विद्रोह न करना ; विद्रोह करने का क्या परिणाम होता है, यह देख ही चुके हो ; सूबे का शासन गम्भीर होकर करना, व्यर्थ के खेल-तमाशों और व्यसनों से दूर रहना।

सुलतान की मृत्यु

दिल्ली लौट आने के बाद सुलतान को अपने बड़े पुत्र शाहज़ादे मुहम्मद के मारे जाने का समाचार मिला (१२८५)। यह ऐसा आघात था जिसे सुलतान सह न सके और उनका स्वास्थ्य तेजी के साथ गिरता गया। बुगरा खाँ को उन्होंने बंगाल से वापिस बुलाकर उसे अपना गद्दीनशीन बनाना चाहा लेकिन वह या तो ज़िम्मेदारी लेने से भागता था या उसके हृदय में गद्दी के प्रति उपेक्षा का भाव था। जो भी हो, शिकार का बहाना कर, वह फिर अपने सूबे में लौट गया।

इसके बाद सुलतान की मृत्यु हो गई। अमीरों ने शाहज़ादा मुहम्मद के पुत्र के दावे की उपेक्षा कर कैकुबाद को गद्दी पर बैठा दिया। यह बुगरा खाँ का सत्रहवर्षीय दुर्बल लड़का था। उसके दादा, सुलतान ने, कड़े नियंत्रण में उसका पालन-पोषण किया था। अब एकाएक सभी नियंत्रणों से मुक्त हो जाने और सब से बड़ी गद्दी हाथ में आ जाने से उसका माथा फिर गया और वह, सिर से पाँव तक, व्यसनों और दुराचार में फंस गया।

राजवंश का अन्त

मंगोलों ने फिर सिर उठाया और पंजाब में प्रवेश कर लाहौर को लूट लिया ; लेकिन, सौभाग्यवश, बलबन की सेना के जो अवशेष वहाँ थे, उन्होंने मंगोलों को खदेड़ कर वापिस कर दिया। राजसत्ता का ह्रास हो गया था। नया वज़ीर निज़ामुद्दीन, शाह को कुराह पर डाल कर, स्वयं सत्ता अपने हाथ में करना चाहता था। खिलजियों और तुर्की अमीरों के बीच फूट डालने के प्रयत्न शुरू किये। सलतनत के कितने ही भागों में खिलजी महत्वपूर्ण पदों पर स्थित थे। जलालुद्दीन फीरोज़ उनका नेता था। तुर्की अमीरों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा। लेकिन अन्त में विजय खिलजियों की हुई।

कैकुबाद को उसके पिता बुगरा खाँ ने सचेत करने का प्रयत्न किया, लेकिन उसने अपने पिता की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया। अपने सूबे बंगाल की सीमा की ओर बुगरा खाँ ने सेना लेकर बढ़ना शुरू किया और, अपने पुत्र के दिल्ली की गद्दी पर बैठते ही, अपने को स्वतंत्र सुलतान घोषित कर दिया। कैकुबाद से उसने भेंट की और उसे कुराह छोड़ने की सलाह दी, फूट के खतरे और वज़ीर की नीयत से भी आगाह किया, लेकिन कैकुबाद पर इस सलाह का कोई असर नहीं हुआ और उसने कुराह को न छोड़ा। अन्त में उस पर लकवे का आक्रमण हुआ और अमीरों ने उसके नाबालिग पुत्र को सिंहासन पर बैठा दिया। इसके शीघ्र बाद ही एक खिलजी सेनापति ने बालक-सुलतान को उसके महल में ही मार डाला। इस प्रकार दास कुल का, काफी बुरे ढंग से, अन्त हो गया और जलालुद्दीन खिलजी ने, वजीरों की हत्या कराने, अमीरों का समर्थन प्राप्त करने और दिल्ली के निवासियों के विरोध का दमन करने के बाद, १२९० ईसवी में, सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया।

दास बादशाहों की तीन पीढ़ियाँ

दास-बादशाहों की तीन पीढ़ियां हुईं—(१) कुतुबुद्दीन और उसके समसामयिक अल्दोज़, कुबाचा और बख्तियार खिलजी जिन्होंने साम्राज्य-निर्माण के उपकरण प्रस्तुत किए, (२) शम्सुद्दीन अलतमश जिसने कुबाचा और अल्दोज़ के विरोध की कमर तोड़ी, सल्तनत की एकता को बनाए रखा और मंगोल-आक्रमकों को पीछे ढकेलने में तेज़ी के साथ योग दिया, और (३) बलबन, शम्सी दासों में सब से अग्रणी, जो पूरे चालीस वर्ष तक दिल्ली का वास्तविक शासक रहा, जिसने सूबागत विद्रोहों का सफलता के साथ दमन किया, जिसने हिन्दुओं के असन्तोष को शान्त किया और अभी तक चले जाने वाले मंगोलों के आक्रमण के खतरे के विरुद्ध सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं को सुसंगठित कर दृढ़ किया। उसके काल में दास-प्रथा के अनुसार उत्तराधिकार की विशेषताएँ प्रमुख रूप से प्रकट हुईं। दास-प्रथा के अनुसार जो दास-अधिकारी अधिक योग्य और सक्षम होते थे, वे वज़ीर और सुलतान तक बन जाते थे।

इस प्रकार पैतृक उत्तराधिकार के दोष और खतरों की यहाँ सम्भावना नहीं थी। शक्तिशाली दास-सुलतानों ने भारत में विदेशी राज्य के क्रम को बनाए रखा। उन सभी अवसरों पर जब पैतृक उत्तराधिकार के प्रयोग का प्रयत्न किया गया—कुतुबुद्दीन, अल्तमश और बलबन के बाद—उन्हें सफलता नहीं मिली, वरन् वे बुरी तरह विफल हुए और तज्जन्य अराजकता तथा फूट की बला को रोकने में अधिकतर किसी दास के मज़बूत हाथों ने ही मदद दी।

उनके इतिहास की प्रमुख विशेषताएँ

दास-बादशाहों के काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि इस काल में एक ऐसे मुस्लिम साम्राज्य की निश्चित रूप से स्थापना हुई जिसकी जड़ें कहीं बाहर नहीं, हिन्दुस्तान की ही भूमि में जमी हुई थीं। इस काल में मुसलमानों का आधिपत्य हिन्दुस्तान-भर में दृढ़ता के साथ फैलता गया और मुस्लिम जगत की दृष्टि में हिन्दुस्तान का महत्व बढ़ता गया। मंगोलों के आक्रमण के निरन्तर खतरे ने, इसमें सन्देह नहीं, सल्तनत की सुरक्षा को संत्रस्त रखा और कभी-कभी, मंगोलों का यह खतरा, आन्तरिक कलह से भी अधिक भयानक हो उठता था। लेकिन भारत मंगोलों के आक्रमण से—जिन्होंने चीन से लेकर मध्य सागर तक समूचे एशिया को पूरी तरह से रौंद डाला था—अपेक्षाकृत मुक्त रहा। भारत में मुस्लिम सल्तनत का निर्माण बड़ी मेहनत से, अनेक बाधाओं के बीच हुआ और उसे सुसंगठित तथा व्यवस्थित करने का काम खिलजी ही कर सके, इनसे पहले के सुलतान प्रारम्भिक निर्माण-कार्य और उसकी कठिनाइयों में ही, अधिकांशतः, फँसे रहे।

दिल्ली की सल्तनत अभी तक समभावयुक्त राजनीतिक इकाई नहीं बन सकी थी। बड़े-बड़े जागीरदारों पर कोई नियंत्रण नहीं था और अपने-अपने इलाकों में वे मनमानी करने के लिए स्वतंत्र थे। कटेहर (रोहेलखंड) के हिन्दू सरदारों पर कोई रोक-थाम नहीं थी ; लाहौर, उच्छ और मुलतान मंगोल आक्रमणों से अरक्षित थे ; मेवात के दुर्दमनीय कबीलों के उत्पात से दिल्ली के आस पास के प्रदेश त्रस्त थे। राजपूतों के विद्रोह को रोकने के लिए व्यापक प्रबंध (नाकेबंदी) करने की आवश्यकता थी। सुदूर स्थित बंगाल ने,

एक तरह से, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था और उसके स्वतंत्र आचरण पर कोई रोक नहीं थी।

सुलतान हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता को स्वीकार करने लगे थे, यद्यपि जब कभी वे विद्रोह करते थे तो दमन के जोम में बहुत से हिन्दुओं को मुसल्मान बना लिया जाता था और उनके मन्दिरों को धूल में मिला दिया जाता था। केवल बड़े-बड़े भू-स्वामी और छोटे-मोटे हिन्दू सरदार इस दमन का शिकार होने से असन्तुष्ट रहते थे। अधिकांश जनता, जो कृषि पर निर्भर करती थी, अछूती रहती थी। सुलतान उसके कठोर दमन को बरदाश्त नहीं करते थे और उसके प्रति, मोटे रूप में, न्यायपूर्ण व्यवहार करते थे—"कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि दास-सुलतान का अपनी हिन्दू-प्रजा का शासन—विद्रोह आदि के समय में प्रदर्शित क्रूरता और कट्टरता को छोड़ कर—उतना ही ठीक और मानवीय था जितना इंगलैंड के नार्मन बादशाहों का शासन था। स्पेन और नैदरलैंड में फ़िलिप द्वितीय के शासन से अगर उसकी तुलना की जाए तो उसके मुकाबिले में यह कहीं अधिक उदार था।"*

———

* देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ ९३।

चौथा परिच्छेद

खिलजी – साम्राज्य (१२९०-१३२०)

खिलजी शासन की स्थापना

खिलजी-वंश सम्भवतः मूल रूप में तुर्की था। इस वंश के सदस्य, बहुत पहले, अफगानिस्तान में आकर बस गए थे और अफगानियों के साथ घुल-मिल गए थे।*

जलालुद्दीन का प्रभुत्व कठिनता से ही स्थापित हो सका। एक तो उसकी आयु अधिक हो गई थी, दूसरे वह कुछ नम्र स्वभाव का था और रक्तपात के प्रति उसके हृदय में अरुचि थी। उसके स्वभाव की उस नम्रता ने विद्रोह तथा अराजकता को बढ़ने का अवसर दिया। तेरहवीं शती के शाह में जो गुण होने चाहिएँ, वे उसमें नहीं थे। फलतः उसके सिंहासन का दबदबा नहीं रहा और निरंकुशता को बढ़ावा मिला। उसके शासन के दूसरे ही वर्ष में कड़ा के शासक मलिक छज्जू ने, जो बलबन का भतीजा था, विद्रोह कर दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। लेकिन उसे पराजित होना पड़ा और उसकी जागीर सुलतान के भतीजे और दामाद अलाउद्दीन को दे दी गई। उसके बाद सुलतान ने रणथम्भौर पर चढ़ाई की, किन्तु दुर्ग पर अधिकार न कर सका और मालवा के कुछ मन्दिरों के लूटपाट से ही उसे सन्तोष करना पड़ा।

---

*प्रमुख मुसलमान इतिहास-लेखक इस विषय में एक-मत नहीं हैं। इस वंश के अधिकारी जानकार बरनी का कहना है कि इनका फिरका तुर्की नहीं था। इनमें और तुर्कों में कोई परस्पर विश्वास के चिन्ह नहीं मिलते। एक अन्य इतिहास-लेखक का मत है कि खिलजी तुर्क थे और इनका फिरका चंगेज़खाँ के पहले भी पाया जाता था। वी० ए० स्मिथ का कहना है कि वे अफ़गान थे (देखिए ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ १८२ पर दिया हुआ नोट; इलियट और डासन, खंड ३, पृष्ठ ३४ भी देखिए)

शासन के तीसरे वर्ष में हलाकूखाँ के एक पौत्र के नेतृत्व में मंगोलों का भी आक्रमण हुआ। सुलतान ने उन्हें पराजित किया और उन्हें, शान्ति के साथ, न केवल वापिस हो जाने दिया वरन् कुछ मंगोलों को दिल्ली में वसने की अनुमति भी प्रदान कर दी। ये मंगोल मुसलमान हो गए और नये मुसलमान कहलाने लगे। इनका अस्तित्व षड्यंत्र और असन्तोष का केंद्र बन गया।*

अलाउद्दीन का दक्खिन पर आक्रमण

सुलतान के भतीजे अलाउद्दीन ने पूर्वी मालवा के भाग को हस्तगत करने तथा भीलसा-दुर्ग पर अधिकार स्थापित करने में सफल योग दिया था। पुरस्कार-स्वरूप सुलतान ने उसे, १२९२ ईसवी में, अवध का सूबेदार बना दिया। इसके अगले वर्ष उसने दक्खिन पर, जो अब तक मुसलमानों से अछूता था, आक्रमण की योजना बनाई और, महाराष्ट्र के यादव नरेश की राजधानी-देवगिरि पर चढ़ाई कर दी।

अपनी सेना लेकर अलाउद्दीन कड़ा से रवाना हुआ और इलिचपुर होता हुआ देवगिरि पर टूट पड़ा। राजा अपनी राजधानी के दुर्ग में ही घिर गया और ठीक उस समय जब कि वह आत्म-समर्पण करने जारहा था, उसका ज्येष्ठपुत्र शंकरदेव सहायता के लिए आपहुँचा। लेकिन पराजय से फिर भी मुक्ति न मिली और नजराने के रूप में इलिचपुर तथा एक बहुत बड़ी रकम लेकर, खानदेश के मार्ग से, अलाउद्दीन मालवा वापिस लौट गया (१२९४ ईसवी)। इस प्रकार दक्खिन का द्वार उत्तर के लिए खुल गया जो फिर कभी बंद नहीं हुआ।

इस बीच, दक्खिन में अलाउद्दीन की दीर्घ अनुपस्थिति के कारण, सुलतान के हृदय में सन्देह ने घर किया और वह ग्वालियर के लिए चल दिया। वहाँ पहुँच कर सुलतान ने अलाउद्दीन की विजय का समाचार सुना। सुलतान के एक अमीर ने सलाह दी कि अलाउद्दीन के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करनी चाहिए, किन्तु सुलतान ने ऐसा नहीं किया और राजधानी में लौट आया। लौटने

*इलियट और डाउन, खंड ३, पृष्ठ १४७-४८।

पर उसे अपने भतीजे अलाउद्दीन के पत्र मिले जिनमें उसने अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया था। इस प्रदर्शन ने सुलतान के हृदय में उठने वाले सन्देह को शान्त कर दिया। इतना ही नहीं वरन् वह, थोड़े से हाली-मवालियों के साथ, विजेता का स्वागत करने कड़ा भी पहुँचा। यहाँ उसकी अपने भतीजे से वह घातक भेंट हुई जिसका परिणाम उसकी निर्मम हत्या के रूप में हुआ (जुलाई, १२९६ ईसवी)।

इसके बाद स्वयं अलाउद्दीन ने शाही सत्ता पर अपना अधिकार कर लिया। अधिकांश अमीरों ने उसका साथ दिया। मृत सुलतान के दो पुत्रों को भी जो मुलतान में थे, अपने मार्ग से साफ कर दिया। जलालउद्दीन की महत्वाकांक्षी पत्नी मलिकाए जहाँ को भी उसने अपने मार्ग से हटा दिया। अपने पुत्रों को सिंहासन पर बैठाने के लिए वह जीतोड़ प्रयत्न कर रही थी।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने सल्तनत पर अपना अधिकार स्थापित किया और, एक इतिहास-लेखक के शब्दों में, "उसने इस सीमा तक स्वर्ण लुटाया कि कृतघ्न प्रजा शीघ्र ही सुलतान की हत्या को भूल कर उसके राज्यारोहण पर खुशियाँ मनाने लगी!" उसकी स्वर्ण-मुद्राओं ने जलाली अमीरों को भी पथभ्रष्ट कर दिया। अपने भूतपूर्व स्वामी के पुत्रों को उन्होंने अपने भाग्य पर छोड़ दिया और अलाउद्दीन का समर्थन करने लगे। *

मंगोलों के सतत आक्रमण

अब नये सुलतान ने भयानक मंगोलों को बहिष्कृत करने की ओर ध्यान दिया। कई वर्ष तक कठिन प्रयत्न करने के बाद उसने बलबन के शुरू किये हुए काम को पूर्ण किया और, मंगोलों को खदेड़ने के बाद, सीमावर्ती प्रदेश में शान्ति स्थापित की।

अलाउद्दीन के शासन के दूसरे ही वर्ष में मंगोल, बड़ी संख्या में, पंजाब में घुस आए थे लेकिन सुलतान के भाई उलुग खाँ और नसरत खाँ ने उन्हें पीछे हटने के लिए बाध्य किया। इसके अगले

---

* देखिए इलियट और डासन, खंड ३; बरनी-लिखित तारीखे फीरोज शाही, पृष्ठ १५७ भी देखिए।

वर्ष मंगोलों ने सेहवान को घेर लिया, मगर ज़फ़र खाँ के सम्मुख उन्हें फिर पीछे हटना पड़ा और उनका नेता वन्दी बना लिया गया। इसके कुछ ही बाद, कुतलग ख्वाजा के नेतृत्व में, मंगोलों ने फिर सिर उभारा और इस बार वे दिल्ली तक बढ़ आए। खुद सुलतान ने उनके विरुद्ध चढ़ाई की और ज़फ़र खाँ की सहायता से उन्हें पूरी तरह पराजित किया। ज़फ़र खाँ, जो अपने समय का बहुत बड़ा योद्धा था, मंगोलों का पीछा करते समय उनके द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर डाला गया (१२९८ ईसवी)। *

इस निश्चित पराजय के बाद भी मंगोलों के आक्रमण बंद नहीं हुए। १३०१ में उन्होंने लाहौर पर आक्रमण किया। इसके दो वर्ष बाद दिल्ली तक बढ़ आए और सुलतान के लिए यह सम्भव न हो सका कि खुले मैदान में उनसे लोहा ले सके। अपने कैम्प में ही उसे बंद रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। लेकिन, देहली के सामने दो मास तक पड़े रहने के बाद, आक्रमक अपने-आप लौट गए।

१३०४ में मुगलों ने फिर आक्रमण किया और शिवालिक पहाड़ियों के किनारे-किनारे होते हुए अमरोहा तक बढ़ आए।† गाज़ी बेग तुगलक खाँ ने, जो दीपालपुर का प्रबंधक था, उन्हें पराजित कर उनके नेताओं को मौत के घाट उतार दिया। फलतः उसे पुरस्कार-स्वरूप, पंजाब का सूबेदार बना दिया गया।

इसके बाद मंगोलों ने मुलतान और शिवालिक पर आक्रमण किया। लेकिन गाज़ी बेग ने, जब वे आगे बढ़ गए पीछे से उन पर आक्रमण कर उन्हें तीन तेरह कर दिया। परिणामतः, पूरी तरह आतंकित हो कर, मंगोल शान्त हो गए और दीर्घकाल

---

* जफर खाँ से मगोल इतने आतंकित थे कि उसके मारे जाने के बाद भी जब कभी उनके मवेशी पानी पीने से मुँह मोड़ लेते तो वे पूछते—"कहीं तुझे ज़फर खाँ इस युग का रुस्तम तो नहीं दिखाई पड़ गया है ?"

† इस आक्रमण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विवरण मिलते हैं। इस दृष्टि से बरनी, फरिशता और अमीर खुसरों के विवरणों का उल्लेख किया जा सकता है। देखिए एम० डफ लिखित, दि क्रानोलाजी आफ़ इंडिया (१८९४), पृष्ठ २११।

तक सिर नहीं उठाया।* सुलतान ने बलबन की सीमा-नीति को पुनर्जीवित किया, आक्रमकों के मार्ग में पड़ने वाले दुर्गों को संगठित कर दृढ़ता प्रदान की। विशेषरूप से दीपालपुर और समाना के दुर्ग को मज़बूत बनाया और अपनी सेना के काफी बड़े भाग को सीमावर्ती छावनियों में नियुक्त किया जिससे आक्रमकों के विरुद्ध, आवश्यकता पड़ने पर, अविलम्ब सैनिक कार्यवाही की जा सके।

अलाउद्दीन का विजय-क्रम

राज्य के लिए मंगोलों का भय प्रमुख था। उसकी ओर से निश्चिन्त होने के बाद सुलतान ने अन्य प्रदेशों की विजय की ओर ध्यान दिया। १२९७ में अलाउद्दीन ने गुजरात को विजय करने का विचार किया। गुजरात पर आक्रमण तो अनेक बार हो चुके थे, लूटमार भी वहाँ बहुधा हुई, लेकिन उस पर विजय अब तक प्राप्त न हो सकी थी। १२९८ में उलुग खाँ, जो सुलतान का भाई था, और नसरत खाँ ने मिलकर गुजरात पर आक्रमण किया, सोमनाथ के मन्दिर को उन्होंने लूटा, खम्बात और अन्हिलवाड़ पर अधिकार कर लिया। यहाँ के राजा ने भाग कर देवगिरि के राजा के यहाँ शरण ली। इसी आक्रमण के दौरान में खोजा मलिक काफूर को, जो आगे चल कर बहुत शक्तिशाली बना, नसरतखाँ खम्बात से अपने साथ ले आया। मलिक काफूर सम्भवतः जन्मतः हिन्दू था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था। सुलतान ने उसे वज़ीर बना कर ऊँचे पद पर बैठा दिया। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसने शाह-निर्माता का महत्व प्राप्त किया। १३०७—११ ईसवी में दक्षिणी भारत के महत्वपूर्ण हमलों का नेतृत्व भी उसी ने किया। नसरत खाँ की मृत्यु के बाद वह सल्तनत का सर्वाग्र सेनाध्यक्ष बन गया। उलुग-खाँ, ज़फर खाँ तथा अन्य कई बड़े सेनापति उसके साथ थे।

---

* बरनी के कथनानुसार दिल्ली और आसपास के इलाकों से मुगलों का भय सर्वथा लुप्त हो गया था। पूर्ण सुरक्षा की भावना सब कहीं फैल गई थी और इन इलाकों की रैयत, जो मुगलों का शीघ्र शिकार हो सकती थी, शान्ति के साथ अपने कृषि-कार्य में लगी थी। देखिए, इलियट और डासन, खंड ३, (पृष्ठ १९९)।

दो वर्ष बाद इन विजेता सेनापतियों ने रणथम्भौर पर चढ़ाई की। लेकिन उन्हें पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा और अन्त में खुद सुलतान ने मुहासिरे का नेतृत्व किया। दीर्घ प्रतिरोध के बाद १३०८ ईसवी में, यहाँ के राजा हमीरदेव ने, जो अपने को पृथ्वीराज का वंशज बताता था, घुटने टेक दिए।

इसके बाद सुलतान ने तैलंगाना पर आक्रमण करने की योजना बनाई और मेवाड़ के विरुद्ध चढ़ाई करने के लिए स्वयं आगे बढ़ा। १३०२ ईसवी में, अत्यधिक लूटमार और विनाश के बाद, उसने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया।* लेकिन वह अधिक समय तक उस पर अपना अधिकार न रख सका और राणा के एक भतीजे को मेवाड़ सौंप देना पड़ा। इसके कुछ ही समय बाद, उसने मालवा पर चढ़ाई कर दी। मांडू, उज्जयिनी, धार और चन्देरी ने सुलतान के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, १३०६ ईसवी तक, मंगोलों के आक्रमण का भय सर्वथा विलीन हो गया था; सुलतान के विरुद्ध जो विभिन्न षड्यंत्र चल रहे थे, वे सब खत्म कर दिये गए;† समूचा हिन्दुस्तान सुलतान के प्रभुत्व को स्वीकार करने लगा और अब उसकी विजय-नीति का विस्तार दक्षिण की ओर अभिमुख हुआ।

---

* मेवाड़ पर आक्रमण करने का तुरत-कारण राणा भीमसिंह की सुन्दर रानी पद्मिनी के प्रति सुलतान का आकर्षण था। सुलतान ने किस प्रकार विश्वासघात किया और राणा ने किस कौशल से परिस्थिति का सामना किया, यह सभी जानते हैं। पद्मिनी और दुर्ग में जितनी भी महिलाएँ थीं सब ने जौहर की प्रथा का अनुसरण किया और जितने भी पुरुष थे वे सब, अपने प्राणों की बाजी लगा कर, आक्रमकों पर टूट पड़े।

चित्तौड़ के पतन से राजपूतों की प्रतिष्ठा, गर्व और उनकी शक्ति को गहरा आघात पहुँचा। चित्तौड़ के पतन से उनका अकथनीय अपमान हुआ और कुछ काल के लिए मेवाड़ का गौरव, पूरी तरह, अंधकारमय हो गया। सुलतान के ज्येष्ठ पुत्र की स्मृति में चित्तौड़ का नाम बदल कर खिज़राबाद रख दिया गया और वही, कुछ समय तक, यहाँ का शासन भी करता रहा। आगे चल कर चित्तौड़ ने फिर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

† सुलतान के भतीजे सुलेमान शाह, मगू तथा उमर ने १३०० में

मलिक काफ़ूर का दक्षिण पर आक्रमण

साम्राज्य विस्तार की नीति ने, जो अब तक सफल होती आ रही थी, दक्षिण में पहुँच कर जैसे दूना जीवन प्राप्त किया। देवगिरि की चढ़ाई में अलाउद्दीन सफल हो चुका था। इसके बाद उसने मलिक काफ़ूर को, जो अब मलिक नायब बना दिया गया था, कमान सौंप दिया (१३०७ ईसवी)। मार्ग में मलिक काफ़ूर ने गुजरात के रायकरण को पराजित किया और सौभाग्य से, रायकरण की कन्या देवल देवी भी उसके कब्जे में आ गई। देवल देवी को मलिक काफ़ूर ने दिल्ली भेज दिया जहाँ, अपनी माँ के साथ, वह भी सुलतान के हरम में सम्मिलित हो गई। बाद में, सुलतान के ज्येष्ठ पुत्र खिजर खाँ के साथ उसका विवाह हो गया।

इसके बाद मलिक काफ़ूर ने देवगिरि पर आक्रमण किया। रामदेव ने संधि के लिए प्रार्थना की और मलिक काफ़ूर ने उसे दिल्ली भेज दिया कि खुद सुलतान से जाकर प्रार्थना करो। सुलतान ने सहानुभूति के साथ रामदेव का स्वागत किया और उसे राय रायान की उपाधि प्रदान की (१३०७ ईसवी)।

अगले वर्ष सुलतान ने मलिक को, देवगिरि के रास्ते, तैलंगाना के विरुद्ध चढ़ाई करने के लिए भेजा। यहाँ का राजा प्रतापरुद्रदेव वारंगल में जाकर बैठ गया और वहाँ से तीव्र प्रतिरोध प्रस्तुत किया। अन्त में वह वार्षिक नज़राना देने के लिए तैयार हो गया। इसके सिवा उसने अपना सम्पूर्ण खजाना भी मलिक को सौंप दिया। मलिक इस सारी सम्पत्ति को दिल्ली ले गया (१३०८ ईसवी)। इसके बाद ही मलिक ने फिर दक्षिण की ओर प्रयाण किया। इस बार उसका होयसालों की राजधानी द्वारसमुद्र पर और कोरोमण्डल तट पर, जो पाण्ड्यों के गृहयुद्ध के कारण विच्छिन्न हो गया, आक्रमण करना था।*

सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और सुलतान की अनुपस्थिति में, जब कि वह रणथम्भौर में थे, हाजी मौला ने दिल्ली में षडयंत्र रचा कि अलतमश के एक वंशज को सिंहासन पर बैठा दिया जाए। साथ ही गुजरात में नौमुसलमानों ने भी विद्रोही रूप धारण कर लिया।

* सुन्दर पाण्ड्य ने, जो जायज़ उत्तराधिकारी था, ईर्ष्या के आवेश में

होयसाल राजा वीर बल्लाल तृतीय ने (१२९२—१३४२ ईसवी) अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण उपायों से अपनी सत्ता और शक्ति को दृढ़ कर लिया था। लेकिन रामदेव यादव से उसकी शत्रुता थी। रामदेव ने, दिल्ली के प्रति अपनी भक्ति के अनुसार, मलिक काफ़ूर को अधिक सहायता दी, फलतः उसे मुसलमानों से पराजित होना पड़ा, क्षतिपूर्ति के लिए उसे बहुत बड़ी रक़म देनी पड़ी और सुलतान के प्रभुत्व को भी स्वीकार करना पड़ा।

आक्रमणों का उद्देश्य

आक्रमणों का इस नीति के सम्भवतः दो उद्देश्य थे—(१) एक तो अपनी शक्ति का रौब गालिब करना और (२) सुलतान की सेना की समुचित रक्षा के लिए भारी मात्रा में धन बटोरना। प्रदेशों पर कब्ज़ा नहीं किया गया। स्थानिक राजाओं को उनके हाथियों और खजाने से वंचित किया गया। यह सम्भव भी नहीं था कि इन दूर स्थित प्रदेशों का दिल्ली से शासन किया जाता। अगर ऐसा किया जाता तो शासन-सम्बन्धी जटिलताओं में वृद्धि होती, संघर्ष और विद्रोहों का दमन करना कठिन हो जाता। अतः भू-प्रदेशों को सल्तनत में मिलाने की नीति नहीं बरती गई।

मलिक काफ़ूर ने इन दोनों उद्देश्यों—सुलतान का दबदबा स्थापित करने तथा सेना के लिए धन बटोरने—की अपने आक्रमणों द्वारा पूरी तरह से पूर्ति की। अपनी सामर्थ्य से अधिक प्रदेशों पर अधिकार करने के पक्ष में सुलतान नहीं था। उसने मलिक काफ़ूर को विशेष रूप से आदेश दिया था कि विजितों पर प्रभुत्व को स्वीकार करने तथा नजराना लेने से अधिक दबाव न डाला जाए।

मलाबार पर आक्रमण

काफ़ूर ने अब अपनी दृष्टि मलाबार की ओर फेरी और पठार

अपने पिता की हत्या कर दी। उसके नाजायज़ भाई वीर पाण्ड्य ने आक्रमण कर उसे मदुरा से खदेड़ दिया। सुन्दर ने सुलतान के संरक्षण में शरण ली और सुलतान ने, इस अवसर से लाभ उठा कर, मालाबार पर आक्रमण कर दिया।

को पार कर मैदानी प्रदेश में प्रवेश किया। यह प्रदेश दो राजाओं के अधिकार में था। मलिक ने दोनों को पराजित किया और लूटा। श्रीरंगम तथा अन्य मन्दिरों को उसने लूटा और मदुरा पर, १३११ में, अधिकार कर लिया। यहाँ का राजा पहले ही भाग गया था। यहाँ के मन्दिर को जला दिया गया और अपना अधिकार बनाए रखने के लिए यहाँ एक सेना नियुक्त कर दी गई। एक इतिहास-लेखक का यहाँ तक कहना है कि मलिक काफूर ने रामेश्वरम् तक के प्रदेश को रौंद डाला। लूट के भारी माल के साथ, जिसमें बड़ी संख्या में घोड़े और हाथी भी थे, वह दिल्ली लौटा। देवगिरि में प्राप्त लूट से कहीं अधिक माल काफूर ने यहाँ प्राप्त किया था।

चौथी बार मलिक काफूर को, शंकरदेव के विद्रोह का दमन करने के लिए, दक्षिण भेजा गया। शंकर देव रामदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस प्रकार महाराष्ट्र को एक बार फिर त्रस्त होना पड़ा (१३१२ ईसवी)।

साम्राज्य का विस्तार

समूचे दक्षिणी भारत पर अब सुलतान का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। उत्तर में लाहौर और मुलतान से लेकर दक्षिण में द्वार-समुद्र तक और पूर्व में लखनौत तथा सोनारगाँव से टट्टाह (सिंध) तक और पश्चिम में गुजरात तक भारत का समूचा भू-खंड उसके साम्राज्य का अंग बन गया था। सम्पूर्ण जंगल-प्रदेश, जो आज मध्य भारत कहलाता है, सल्तनत में सम्मिलित था। लेकिन दृष्टि को चकित और स्तब्ध करने वाले इस विस्तार के होते हुए भी सल्तनत विभिन्न जातियों का एक समूह मात्र थी—केवल समूह-मात्र ही, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की सैद्धान्तिक या अन्य कोई एकबद्धता नहीं थी। यह समूह ऐसा था जो नियंत्रण के ढीला होते ही या अधिपति के हटते ही बिखर जाता।

शक्ति का केन्द्रीकरण कर अपनी विजयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सुलतान ने अपनी पूरी क्षमता का प्रयोग किया। शासन के प्रारम्भिक काल में जो बहुधा विद्रोह हुए—जैसे हाजीमौला का विद्रोह—उन्होंने सुलतान को 'काल्पनिक सुरक्षा' से सचेत

कर दिया। विजयों के मद में सुलतान समझने लगा था कि वह सिकन्दर को भी मात कर देगा। इतना ही नहीं वरन् वह अपने-आप को मसीहा—धर्म-गुरु—भी समझने लगा था। उसने अपने-आप को खलीफा घोषित करने का सुझाव भी रखा, लेकिन उसके साथी इस सुझाव को सुन कर चुप रह गए। पर सिकन्दर को मात करने की उसकी आकांक्षा को उन्होंने सराहा।

सुलतान ने अपनी समची शक्ति विद्रोहों के दमन करने में लगा दी। अपने वजीरों और काजियों से उसने मंत्रणा की और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा कि जनता के असन्तोष के निम्न चार कारण हैं—

(१) भले और बुरे, दोनों ही प्रकार के लोगों की उपेक्षा (२) मद्य-पान जो लोगों को गुट्ट बना कर उत्पात करने के लिए उकसाता है (३) मलिक और अमीरों का गुटबंधन (४) धन और सम्पत्ति का बाहुल्य जो सभी बुराइयों की जड़ है जो झगड़ों को जन्म देता है और घमंड तथा अपने ही हाथ में सारी शक्ति रखने की भावनाओं को उभारता है।*

सुलतान की दमन-नीति

सुलतान ने अब गहरी दमन-नीति का सहारा लिया। सब से पहला कदम उसने यह उठाया कि माफीदारों की जमीन, इनाम और धार्मिक कार्यों के लिए वक्फ़ सम्पत्ति को जब्त कर लिया। दमन से त्रस्त और पस्त जनता से, किसी भी बहाने, धन वसूल किया जाता था—उन्हें अपनी सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता था। इस दिशा में सुलतान यहाँ तक बढ़ा कि देश में धन के दर्शन दुर्लभ हो गए।

अपने दमन-कार्य के लिए सुलतान ने अत्यन्त सक्षम और योग्य गुप्तचरों का संगठन किया। बाजार और सरायों की प्रत्येक घटना का, अमीरों और बड़े लोगों की प्रत्येक हरकत का, ये गुप्तचर सुलतान को विवरण देते थे इसके साथ-साथ सुलतान ने मद्य-पान का निषेध कर दिया। न कोई मादक द्रव्य बेच सकता था, न

* देखिए बरनी, इलियट और डासन द्वारा उद्धृत, खंड तीन, पृष्ठ १७८।

उनका प्रयोग कर सकता था। जुआ खेलने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया मादक-द्रव्यों के विक्रेता और जुआरियों को दिल्ली से बहिष्कृत कर दिया गया। उसने अपने प्रयोग में आने वाली मदिरा और मादक द्रव्यों को फेंकवा दिया, सुरा-पात्रों को नष्ट करा दिया। मदिरा की दावतें सुलतान ने सर्वथा बंद कर दीं। जो कोई सुलतान के नियमों का, निषेधों का, उल्लंघन करता, उसे कठोर दंड दिया जाता।

इन कठोर नियम-निषेधों का पालन करना और कराना सहज नहीं था। अतः कुछ काल के बाद उन्हें शिथिल कर दिया गया। लेकिन इनसे लाभ भी हुआ। एक इतिहास-लेखक के शब्दों में—"मद्य-पान के निषेध के बाद षड्यंत्रों का जोर कम हो गया और विद्रोह की आशंका दूर हो गई।"

सुलतान की दमन-नीति का सब से अन्तिम अंग यह था कि अमीरों को एक-दूसरे से मिलने नहीं दिया जाता था जिससे वे, शाह की स्वीकृति के बिना, किसी प्रकार के गुट्ट का निर्माण न कर सकें। इससे लाभ यह हुआ कि अमीरों के लिए मिलकर किसी षड्यंत्र या विद्रोह को रचना करना सम्भव नहीं रहा।

हिन्दुओं का दमन

विद्रोह और असन्तोष की भावनाओं को नष्ट करने के लिये उपर्युक्त निषेधाज्ञाओं को ही पर्याप्त नहीं समझा गया। हिन्दुओं का दमन करने के लिए उसने नये नियमों का निर्माण किया। वह हिन्दुओं के धर्म और उनकी सम्पत्ति को नापसन्द करता था। दोआब के उद्धत रईसों से वह घृणा करता था। उसने इन रईसों को इस सीमा तक पङ्गु और निरीह बनाने की नीति अपनाई कि वे सिर उठाने योग्य न रह सकें। वह उन्हें उस स्थिति में पहुँचा देना चाहता था कि वे अपने ही काम में खटते रहें और विद्रोह तथा षड्यंत्र रचने का उन्हें थोड़ा भी अवकाश न मिल सके। उन्हें बाध्य किया गया कि अपनी जमीन की पैदावार का आधा भाग सरकार को दें। उनके ढोर-डंगरों की चराई पर भी एक विशेष कर लगा दिया गया। उनके घरों पर भी टैक्स लगा दिया गया। रईसों पर ही नहीं,

सभी हिन्दुओं पर ये कर लगाए गए। किसी को भी इन करों से मुक्त नहीं किया जाता था। कर उगाहने वाले बहुत सख्ती बरतते थे। नायब वजीर शरफ काई, जिसे वसूली का काम सौंपा गया था, भ्रष्टाचार पर कड़ी निगाह रखता था और उन सभी अधिकारियों को, जो घूस-आदि लेने के अपराधी होते थे, कठोर दंड देता था। इन करों के नीचे हिन्दू बुरी तरह पिस गए।*

अलाउद्दीन की शासन-व्यवस्था, पूर्णतया सैनिक व्यवस्था थी।† सुव्यवस्थित और सुसंगठित सेना इस व्यवस्था का प्रमुख आधार और आवश्यकता थी। उसके विना इतने बड़े साम्राज्य को वे बाँध कर नहीं रख सकते थे। अपनी सेना में सुलतान ने व्यापक सुधार किये थे। अपनी सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को उसने किस प्रकार संगठित कर सुरक्षित किया यह हम बता ही चुके हैं। योग्य और परखे हुए आदमियों को ही सेना का अध्यक्ष बनाया जाता था।

---

* कोई भी हिन्दू सिर ऊँचा नहीं कर सकता था। उनके घरों मे सोने-चाँदी, जीतल या टंक कोई अलंकार का चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता था। गरीबी की मार से त्रस्त हो हिन्दू मुखियों और जमींदारों के घरों की स्त्रियाँ मुसलमान घरों में जाकर मजूरी करती थीं। अलाउद्दीन ने, अपने चारों ओर, ऐसे मुल्ला और काज़ियों की दीवार खड़ा कर ली थी जो कहते थे कि हिन्दुओं को निम्नावस्था में रखना, उन्हें उठने न देना, मुसलमान शासकों का धार्मिक कर्त्तव्य है। इसी धार्मिकता के नाम पर सुलतान हिन्दुओं से अधिक-से-अधिक कर और नज़राने वसूल करता था। (इतिहास-लेखक बरनी के चचा बयाना के काज़ी मुगीसुद्दीन के जवाब और सुलतान के सवाल बरनी ने उद्धृत किए हैं। देखिए ईलियट और डासन, खंड तीन, पृष्ठ १८४)

† ई० बी० हेवल के अनुसार (दि हिस्ट्री आफ एरियन रूल इन इंडिया (१९१८) पृष्ठ १०१-२ , अलाउद्दीन की नीतिमत्ता उसके सैनिक संगठन की आवश्यकताओं से परिचालित होता थी। सम्पूर्ण मानवीय हितों को सुलतान ने अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ करने में लगा दिया था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह खड्ग की धार की तरह तेज़ और पूर्णतया वैज्ञानिक उपायों को काम में लाता था। किसी की मजाल न थी जो उसकी राह में खड़ा हो सके, या उसके आदेशों का पालन न करे।

इस सैनिक संगठन के लिए सरकारी खज़ाना पर्याप्त नहीं होता था। यह भी सुलतान के लिए सम्भव नहीं था कि सैनिकों की बढ़ती हुई संख्या को वह उतना भी वेतन देता रहे जितना कि अब तक देता आ रहा था। इसलिए सुलतान ने बाजार-भावों को नियमित करने का तथा अन्न-आदि के आयात-निर्यात की ऐसी व्यवस्था की जिससे चीज़ें सस्ती हो जाएँ और सैनिकों को, कम वेतन पर भी, जीवन बिताने में कठिनाई न हो। इस प्रकार सुलतान ने बढ़ती हुई सेना को बिना खर्च का बोझ बढ़ाए स्थायित्व प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। उसकी संगठन-शक्ति ने उसका पूरा साथ दिया।

भाव के नियंत्रण के लिए सुलतान ने एक सूची तैयार की। दरों को नियंत्रित रूप में चालू करने के लिए उसने एक सुयोग्य बाज़ार-निरीक्षक अधिकारी नियुक्त किया। शाही गोदामों में अन्न जमा किया। दोआब के शाही गाँवों को आदेश दिया कि वे माल गुज़ारी पैदावार के रूप में दें। इस प्रकार अन्न की आमद इतनी भर पूर हो गई कि तंगी के उस काल में, दरों का ऊँचा होना जनता को न अखरा।

अन्न के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के दाम भी नियत कर दिए गए थे। कारवानों और सौदागरों को सख्त ताकीद थी कि वे अन्न न जमा करें। सौदागरों को रजिस्टर्ड किया जाता था और नियत दर पर अपना माल बेचने के लिए उन्हें अग्रिम सहायता दी जाती थी। बाज़ार के अधिकारी योग्यता के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते थे और सभी अपराधियों को कठोर दंड दिया जाता था। सैनिकों के काम में आने वाली वस्तुएँ—घोड़े, दास, कपड़ा आदि—भी नियंत्रित दामों पर मिलती थीं। बाज़ार के इस प्रकार नियंत्रण से व्यापारियों को अवश्य कुछ कठिनाई हुई होंगी, लेकिन नियंत्रण की सफलता पूर्ण थी। कई वर्षों तक यह नियंत्रण जारी रहा और विक्रेता, बिना वास्तविक कठिनाई के, नियंत्रित मूल्य पर अपना सामान बेचते रहे। अधिकारीवर्ग अगर निष्पक्ष और उत्साही न होता तो नियंत्रण की यह योजना सफल न हो पाती। करों की वसूली में अधिकारी बहुत तेज़ और कठोर थे जिससे काश्तकारों को, अविलम्ब, अपनी पैदावार को, बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता था। आयात-निर्यात के नियमों का भी सख्ती के

साथ पालन किया और कराया जाता था। मुद्रा-संकोच ने दामों को ऊँचा न चढ़ने दिया था। नियंत्रण की इस योजना का, सुलतान की मृत्यु के साथ, अन्त हो गया।

शासन का ऐहिक आधार

सुलतान ने जो सैनिक सुधार किये और बाज़ार का जिस प्रकार नियंत्रण किया, उससे उसकी सैनिक शक्ति में योग्यता और क्षमता की वृद्धि हुई। परिणामतः वह मंगोलों के आक्रमणों तथा अमीरों और हिन्दू सरदारों की विद्रोही प्रवृत्तियों का दमन कर सका। लेकिन अलाउद्दीन का शासन निरा सैनिक ही नहीं था। वह ऐहिक भी था, इस अर्थ में कि वह मुल्ला तथा अन्य धार्मिक व्यक्तियों का शासन के मामले में हस्तक्षेप नहीं स्वीकार करता था। "शासन-विधान शाह की इच्छा पर आधारित था, पैगम्बर की नहीं। इस नये राजतंत्र का यही मूलाधार था।" बयाना के काज़ी को सुलतान ने जो आदेश दिया था, उससे भी शासन के इस ऐहिक आधार की पुष्टि होती है। *

शासन के उद्देश्य

अलाउद्दीन हिन्दुओं के प्रति कठोर था किन्तु इसका कारण उसकी धर्मांधता नहीं थी! इसका कारण था हिन्दुओं की उत्तेजना और उनकी विद्रोही भावनाएँ। मुल्ला और काज़ियों ने सुलतान को समझाने का प्रयत्न किया कि हिन्दुओं के प्रति उसका कठोर व्यवहार शरीयत-सम्मत तो है ही, लेकिन फिर भी नर्म है—वह उतना कठोर नहीं है जितना कि मुनकिरों के लिए होना चाहिए। सुलतान ने मुल्लाओं की इन बातों को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार, मुस्लिम हुकूमत की स्वीकृत परिपाटी के अनुसार न चला

---

* "यद्यपि मैंने किसी विज्ञान अथवा धार्मिक ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया है, फिर भी मैं मुसलमान हूँ— मुसलमानों के बीच में फूला-फला हूँ, सल्तनत और जनता के लिए ऐसे आदेश मैं जारी करता हूँ जिन्हें उपयोगी समझता हूँ, मैं नहीं जानता कि मेरे ये आदेश धर्म-सम्मत हैं या नहीं; सल्तनत के लिए अथवा प्रस्तुत समस्या को देखते हुए मुझे जो ठीक मालूम होता है वही मैं करता हूँ।"—ईलियट और डौसन, खंड तीन, पृष्ठ १८८।

कर उसने एक नयी शासन-नीति को अपनाया। अकबर के समान, जो कि बाद में हुआ, उसने भी दिल्ली के बादशाहों की परम्परा से अलग रास्ता अपनाया। उसके इस मार्ग में जो भी बाधा बन कर खड़ा होता था या उसकी शासन-नीति को चोट पहुँचाने का प्रयत्न करता था, उसे निर्ममता के साथ साफ कर दिया जाता था। *

शक्तिशाली राजनीतिक व्यवस्था

इस प्रकार अलाउद्दीन की राजनीतिक व्यवस्था पूर्ण थी। उसकी व्यापक सम्पूर्णता तथा प्रभावशीलता ने भारत मुस्लिम शासन को बहुत प्रभावित किया। अलाउद्दीन पहला बादशाह था जिसने शाही नीति को स्पष्ट रूप में सामने रखा और केन्द्री भूत शासन व्यवस्था के साथ उसका मेल बैठाने में, धार्मिक आग्रह से मुक्त कर उसे ऐहिक रूप प्रदान करने में, सफलता प्राप्त की। उसके नेतृत्व में मुसलमानों के आधिपत्य ने शाही सत्ता का रूप धारण किया और विधान-सम्मत जीवन का देश में काफी अच्छा विकास हुआ। उसके शासन ने लोगों के मस्तिष्क को अनुशासन के अनुकूल लाने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त की। शान्ति और सुरक्षा के वातावरण में देश की सम्पन्नता में भी अपेक्षाकृत वृद्धि हुई। मस्जिद, शिवालय तथा सार्वजनिक हित की अनेक संस्थाओं का दिल्ली में निर्माण हुआ। † उस के प्रमुख कवि अमीर खुसरो उसके दरबार में रहता था। सन्त निज़ामुद्दीन औलिया और शेख रुक्नउद्दीन जैसे पवित्र और धार्मिक व्यक्ति उसकी शोभा में और वृद्धि करते थे। ‡ इस प्रकार सुलतान की सब से बड़ी सफलता यह थी कि उसने केन्द्रीय शासन को ठोस नींव प्रदान कर दी थी।

---

* ईश्वरीप्रसाद कृत मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ २०६।

† अलाई दरवाज़ा और निक्षेपित मीनार जिसके सम्मुख कुतुब मीनार भी ओछी पड़ जाती है—देखिए पेज कृत ए गाइड टू दि कुतुबः दिल्ली (१९२७)।

‡ निज़ामुद्दीन के सम्बंध में विशेष विवरण के लिए देखिए मौलवी ज़फर-हुसेन कृत 'ए गाइड टू निज़ामुद्दीन' (१९२२), मेमायर्स आफ दि आर्केयोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया।

शासन के दोष

अलाउद्दीन की शासन-व्यवस्था में अनिवार्य बड़े बड़े दोष भी थे। विजयों के विस्तार ने ज़िम्मेदारियों के बोझ में अत्यधिक वृद्धि कर दी थी। साम्राज्य के सीमा स्थित प्रदेशों पर—उत्तर-पश्चिम और दक्खिन पर—आक्रमण का भय सदा बना रहता था। स्थानिक अमीर सुलतान के कड़े नियंत्रण से उकता गए थे। सुलतान के कठोर व्यहार से क्षुब्ध और अपमानित हिन्दू अपने रोष-प्रदर्शन के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे। व्यापारी वर्ग कड़े नियंत्रण से असन्तुष्ट था। दिल्ली तथा अन्य स्थानों में जो नये मुसलमान बस गए थे, उन्हें सुलतान के कठोर व्यवहार ने इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि सल्तनत से वे कभी समझौता नहीं कर सकते थे। अति-केन्द्रीकरण, दमन और गुप्तचरों के जाल ने सुलतान की अधिकार-शक्ति को बहुत कुछ दुर्बल कर दिया था। मलिक काफ़ूर सुलतान के शासन के अन्तिम काल में जो बहुत ऊँचा उठ गया था। अयोग्य किन्तु अपनी कृपा पर आधारित अधिकारियों के साथ मिल कर, खान्दानी अमीरों को उसके पीछे धकेल दिया था। काफ़ूर के ही प्रभाव में आकर सुलतान ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बन्दी बना लिया और अपने बहनोई गुजरात के अलपखान को मरवा दिया था। गुजरात में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और उसका दमन करने के लिए जो शाही सेना भेजी गई उसे पराजित होना पड़ा (१३१५ ईसवी)।

सुलतान की मृत्यु

एक घातक बीमारी के कारण, जनवरी १३१६ में, सुलतान की मृत्यु हो गई। दुष्ट मलिक काफ़ूर ने खिजर खाँ तथा उसके एक दूसरे भाई की आँखें फोड़वा दीं और अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र को सिंहासन पर बैठा दिया। पुराने अमीरों ने, काफ़ूर के अत्याचारों और उसकी दुष्टता से विक्षुब्ध होकर, एक षड्यंत्र रचकर काफ़ूर को मरवा डाला। साथ ही काफ़ूर के दूसरे साथियों का भी अन्त कर दिया। इस प्रकार १३१६ ईसवी में सुलतान का एक अन्य पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारक शाह सिंहासन पर बैठा। प्रारम्भ में उसने काफी शक्ति और योग्यता का परिचय दिया। बाजार-नियंत्रण के अरुचिकर

नियमों को रद्द कर दिया और गुजरात और दक्षिण के विद्रोहों को शान्त करने में उसने काफी तत्परता प्रदर्शित की। देवगिरि के हरपालदेव के विद्रोह का दमन किया और यादवों के राजकुल का चिराग बुझा दिया (१३१८), यादवों के राज्य को उसने मुसलमान अधिकारियों में बाँट दिया और इस प्रकार विभाजित प्रदेशों में उसने सैनिक शासक नियुक्त कर दिये। गुजरात के एक निम्नजाति के व्यक्ति मलिक खुसरो को, जिसने धर्म-परिवर्तन कर लिया था, उसने तैलंगाना पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। इस कार्य में उसने सफलता प्राप्त की और कोरो मंडल के तट तक उसका प्रभाव बढ़ गया।

खुसरो खाँ का सिंहासन पर अधिकार

इस बीच सुलतान ऐयाशी में गहरा डूबता जा रहा था और सभी प्रकार की नैतिकता को उसने तिलाञ्जलि दे दी थी। सभी प्रतिष्ठित व्यक्तियों को, अपने दुराचार से, उसने अपने से दूर फेंक दिया था और खुसरो खाँ को उसने व्यापक शक्ति प्रदान कर दी थी। निम्नजाति में उत्पन्न खुसरो आतंकपूर्ण शासन का श्रीगणेश किया, यहाँ तक कि अप्रेल १३२० ईसवी में उसने स्वयं सुलतान को भी मरवा डाला। उसने गुजरात की सुन्दर राजकुमारी देवल देवी से, जिसका पहले खिजर खाँ और बाद में मुबारक से विवाह हुआ था, अपना विवाह कर लिया।

तुगलक-वंश की स्थापना

इस प्रकार खिलजी वंश का अन्त हो गया और खुसरो ने, नासिरउद्दीन नाम से, सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अपने लघु शासन-काल में—केवल चार मास के शासन में—खुसरो ने मुसलमानों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया, अपनी निम्नजाति के भाई-बान्धवों को उसने ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। सम्भवतः उसका उद्देश्य हिन्दुओं के प्रभुत्व को फिर से स्थापित करना था। किन्तु प्रतिष्ठित और कुलीन हिन्दुओं ने उसे अपने से दूर ही रखा। उधर अलाई के सभी अमीरों ने दीपालपुर के कोतवाल के नेतृत्व में दिल्ली पर चढ़ाई कर उसे पदच्युत करने का आयोजन रचा।

दीपालपूर का कोतवाल, गाज़ीबेग, शाही षड्यंत्रों से अब तक अपने को अलग रखता आया था। उसने खिलजी वंश के कट्टर भक्त और पक्का मुसलमान होने के कारण मुबारक उससे भय खाता था। वही अब इसलाम का रक्षक बन कर उठ खड़ा हुआ। उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। खुसरो को पराजित कर उसने मरवा डाला और अलाउद्दीन के वंश के अन्य किसी उत्तराधिकारी के अभाव में स्वयं अपने नाम से एक नये वंश की नींव डाली। इस वंश का नाम गयासुद्दीन तुगलक के नाम पर तुगलक वंश हुआ।

पाँचवाँ परिच्छेद

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शतियों में दिल्ली की सल्तनत
(१३२३-१५२६)

[१]

प्रारम्भिक तुगलक (१३२० १३५१)

गाज़ी बेग तुगलक जन्म से करौना तुर्क था।* अलाउद्दीन खिलजी के भाई उलुग खाँ के यहाँ दास-रूप में उसने अपने जीवन का प्रारम्भ किया था। अपने साहस और क्षमता के बल पर उन्नति कर, मुबारक के शासन-काल में वह दीपालपुर का शासक बन गया। नीच जाति में उत्पन्न खुसरो खाँ के अंधेरगर्दी से पूर्ण शासन-काल में जब मुसलमानों की प्रतिष्ठा को बहुत नीचे गिरना पड़ा, उच्छ के शासक के साथ मिल कर उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई के फलस्वरूप खुसरो पराजित हो गया और दिल्ली के सिंहासन के लिए उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं रहा। फलतः उसने, गयासुद्दीन नाम से, कुछ अन्यमनस्कता का प्रदर्शन करते हुए, सिंहासन पर पाँव रखा।

उसने अपने शासन का प्रारम्भ दलित कृषकों के दुःखों को कम करने वाले कुछ बुद्धिमत्ता पूर्ण कानूनों के साथ किया। अलाउद्दीन के अमीरों और सम्बंधियों को भी उसने अपने अनुकूल बना लिया। हिन्दुओं को अभी भी निम्न दृष्टि से देखा जाता था। कर के

*करौना मध्य एशिया के मंगोल कबीलों में से थे। प्रारम्भिक काल में उन्होंने फारस पर मंगोलों के आक्रमणों में प्रमुख भाग लिया था। हैग का मत है कि तुगलक कबीलाई नाम है। (देखिए जे० आर० ए० एस० (१६३२) पृष्ठ ३११; और कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खंड ३, पृष्ठ १२६)

†उसके शासन काल में पहली बार मुसलमानों ने किसानों के महत्त्व को अनुभव करना शुरू किया। देखिए एडवर्ड थामस लिखित 'क्रोनिकल्स आफ दि पठान किंग्स आफ देहली, (१८७१) पृष्ठ १८७।

बोझ से उन्हें उसी सीमा तक मुक्त होने दिया गया जहाँ तक कि वे अपने धन के मद में चूर हो फिर से सिर न उठा सकें, साथ ही यह भी न हो कि तंग आकर वे अपने व्यापार और धरती को छोड़ बैठें। भूमिकर में सुधार किया गया, सावधानी से जाँच पड़ताल करने के बाद कुल पैदावार का एक-दसवाँ भाग कर की दर निश्चित कर दी गई और अधिकारिओं के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए अनेक नियम बनाए गए।

न्याय और पुलिस के विभागों में भी सुधार किया गया। सैनिक व्यवस्था को अधिक संयत तथा सूक्ष्म रूप से संगठित किया गया। सेना के घोड़ों को चिन्हित करने सेना ट्रूपर्स की परिचय-सूची की जो प्रथा अलाउद्दीन ने जारी की थी, उसका पूरा उपयोग किया गया। सैनिकों पर नियंत्रण को कड़ा कर दिया गया, लेकिन उनके वेतन और साज़-सामान के बारे में उदार नीति से काम लिया गया। घुड़ सवारों के द्वारा डाक भेजने का नियमित प्रबन्ध किया गया। डाक भेजने की इस व्यवस्था का मूरिश यात्री इब्न बतूता ने आँखों देखा वर्णन किया है।

तुगलकाबाद का दुर्ग

इस प्रकार सुलतान ने 'सल्तनत का सफलता के साथ पुनर्संगठन किया जो निष्क्रिय और निर्वीर्य मुबारक तथा नापाक खुसरो के शासन-काल में अव्यवस्थित हो गई थी।" इस काल के कोई अवशेष नहीं मिलते, किन्तु सुलतान का तुगलकाबाद वाला महान दुर्ग कुतुबमीनार के पूर्व में स्थित है, जिसके भीतर एक 'गढ़' तथा शाह का ठोस मकबरा बना हुआ है। इसे उसके शासन की अक्षय स्मृति के रूप में आज भी देखा जा सकता है।

वारंगल पर उलुगखाँ के आक्रमण

सुलतान ने अपने पुत्र और उत्तराधिकारी फखरुद्दीन जूना को, जो उलुग खाँ कहलाता था, १३२१ ई० में दक्षिण का शासन-भार सौंप दिया। उसने वारंगल के प्रतापरुद्र के विरुद्ध जो मुसलमानों के आधिपत्य से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील था, चढ़ाई कर दी। प्रारम्भिक आक्रमणों में वारंगल को पूर्णतया अपने वश में नहीं किया जा सका। षड्यंत्रों और आपसी मतभेदों ने आक्रमकों के मोर्चे

में दरार डाल दी। * फलतः उलुग खाँ के लिए, सिवा तुरत पीछे हट कर देवगिरि चले जाने के और कोई चारा नहीं रहा।

वारंगल पर फिर आक्रमण करने के लिए सुलतान ने और सेना भेजी। उलुग खाँ ने फिर चढ़ाई की। मार्ग में बीदर (इब्न बतूता द्वारा वर्णित बदरकोट) को रौंदते हुए वारंगल के बाहरी दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया। राज परिवार और कोष भी उसके हाथ में आ गये और तेज़ी के साथ, तैलंगाना के काफी भाग को भी उसने रौंद डाला। राजा को बंदी बना कर उसने दिल्ली भेज दिया और वारंगल का नाम बदल कर सुलतानपुर रख दिया। इसके बाद, विजयी उलुग खाँ ने उड़ीसा की राजधानी जजनगर पर चढ़ाई की और तैलंगाना होते हुए देवगिर लौट आया। इस प्रकार दक्षिण और दक्षिणी भारत में काकातियों की शक्ति के प्राधान्य का अन्त हो गया।

बंगाल पर आक्रमण (१३२४)

१३२४ में सुलतान बंगाल पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ। अपनी अनुपस्थिति में उसने उलुग खाँ जूना को शासक नियुक्त कर दिया। बंगाल के विद्रोह को दबाने में उसने सफलता प्राप्त की और वहाँ अपना सूबेदार नियुक्त कर दिया। बंगाल से लौटने पर उसने तिरहुत (मिथिला) के राजा † का दमन कर उसके प्रदेश को

---

*सुलतान के प्रति विश्वासघात का प्रारम्भ उलुग खाँ में बहुत पहले ही हो गया था और प्रारम्भिक आक्रमणों की यह सफलता सम्भवतः इसी का नतीजा था। इस तरह की अफवाहों की भी कमी न थी कि छोटे पुत्र का मार्ग साफ करने के लिए गयासुद्दीन को मरवा दिया गया है। जो भी हो, अपने असली इरादों को सुलतान से—अपने पिता से छिपाने में उलुग खाँ सफल रहा। देखिए टामस कृत 'क्रोनिकल्स आफ दि पठान किंग्स आफ देहली, पृष्ठ १८८; हैग कृत 'फाइव क्वैश्चन्स इन दि हिस्ट्री आफ दि तुगलक डाइनैस्टी—जे० आर० ए० एस०, १६२२ में प्रकाशित, पृष्ठ ३१६-७२।

† करनाट वंश का हरसिंह देव। भाग कर वह नेपाल चला गया और भटगान में जाकर बस गया।

पूर्णतः अपने अधीन कर लिया। इसके बाद, दिल्ली पहुँचने पर, उलुग खाँ की बनवाई अस्थायी बारहदरी की छत के गिर जाने से, सुलतान की मृत्यु हो गई। इसे हम निरी दुर्घटना भी कह, सकते हैं और उलुग खाँ के षड्यंत्र का परिणाम भी। सुलतान के स्वागत के लिए उलुग खाँ ने यह बारहदरी बनवाई थी।*

सुलतान की मृत्यु के बाद उलुग खाँ, सुलतान मुहम्मद शाह नाम से सिंहासन पर बैठा (फरवरी, १३२५ ईसवी)। सर्व साधारण में वह मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से प्रसिद्ध है।

मुहम्मद बिन तुगलक

नये सुलतान को तनिक भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। प्रजा के हृदय में अगर कोई सन्देह था भी तो उसे वह, नये सुलतान की उदारता के आगे शीघ्र ही भूल गई। वह उन आदमियों में से था जो बादशाहत के लिए ही मानो जन्म लेते हैं,—अति उदार, माना हुआ विद्वान्, संयमी, अपने धर्म का दृढ़ रक्षक, अपने समय का सिद्ध हस्तनायक।†

उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने समसामयिकों को चकित कर दिया था। वह विद्याओं में पारंगत तथा ललित कलाओं का प्रेमी था, उसने परिष्कृत रुचि पाई थी। धर्म के विषय में वह उदार था। हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति उदार थी। सामाजिक सुधार की

---

*सुलतान की मृत्यु के कारण के सम्बंध में इतिहास-लेखक एक मत नहीं हैं। बरनी ने उस घटना का वर्णन नहीं किया है। इब्न बतूता ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उलुग खाँ ही सुलतान की मृत्यु का कारण था। एक प्रत्यक्षदर्शी से सुन कर इब्न बतूता ने ऐसा लिखा है। बाद के इतिहास-लेखक, निजामउद्दीन और फरिश्ता आदि, ने जो कुछ लिखा है वह और भी विरोधी है—कुछ ने उलुग खाँ को अपराधी ठहराया है, कुछ ने उसे अपराध-मुक्त दिखाने का प्रयत्न किया है। शेख निजामुद्दीन औलिया के प्रति सुलतान को सन्देह था कि वह शाहजमा से मिला हुआ है। देखिए थामस, पृष्ठ १८६, ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ २३३, इलियट और डौसन, खण्ड तीन, पृष्ठ २३५; हैग, जे. आर० ए० एस। १६२२, पृष्ठ ३३६।

† थामस, क्रानिकल्स, पृष्ठ २०२।

ओर उसका ध्यान था। इब्न बतूता ने सुलतान के इन गुणों का सविस्तर वर्णन किया है, साथ ही उसकी रक्तपिपासा का और मानवीय दुःखों के प्रति उसके उपेक्षा-भाव का भी उल्लेख किया है। बरनी ने सुलतान के बुद्धिवाद की ओर मुल्लापन का विरोध करने तथा सच्चे मुसलमानों को दण्डित करने की नीति की भी निन्दा की है।*

कहा जाता है कि सुलतान गर्व से अंधा हो गया था इसीलिए छोटे तथा बड़े अपराधों में भेद न कर सब को भयानक दण्ड देता था। कभी वह राक्षसी क्रूरता के साथ व्यवहार करता था और कभी उदारता की पुतली बन जाता था। उसके कृत्यों में दोनों ही तरह के उदाहरण मिलते हैं। एक ही वक्त में वह अपने को सालोमन भी समझता था और सिकन्दर भी। बरनी ने उसके गर्व की तुलना फैरो और नोमरोद से की है। "बरनी और इब्न बतूता दोनों ने ही उसकी उद्धतता, उसकी पवित्र हृदयता, उसके दीन भाव,

---

*इलियट और डौसन, खंड ३, पृष्ठ २३६। बरनी और इब्न बतूता दोनों ने सुलतान की उदारता का खुलकर गुण गान किया है। साथ ही उन्होंने उसकी क्रूरता और रक्तपिपासा की, उतनी ही मात्रा में, निन्दा भी की है। बरनी ने सुलतान की क्रूरता का कारण उसके बारह दुष्ट हृदय सलाहकारों का प्रभाव बताया है। लेकिन मुहम्मद अपने-आप में इतना निरीह न था कि उसे आसानी से कठपुतली बनाया जा सकता।

ऊपर से देखने पर सुलतान आश्चर्यजनक विरोधाभासों का पुतला मालूम होता है। किन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं है। परवर्ती लेखकों ने रक्त पिपासा और पागलपन के जो आरोप उस पर लगाए हैं, वे सर्वथा असत्य हैं। किसी भी समसामयिक लेखक ने उसके पागलपन का जरा-सा भी संकेत नहीं दिया है। रक्तपिपासा का आरोप, वस्तुतः उन मुल्लाओं ने लगाया है जिनकी सुलतान खुले रूप से उपेक्षा करता था। यह सच है कि वह, मध्यकाल के अन्य स्वेच्छाचारी शासकों के समान, क्रोध के वशीभूत हो अत्यन्त कठोर दण्ड दे डालता था और ऐसा करते समय वह नहीं देखता था कि दण्डित होनेवाला व्यक्ति बड़ा है या छोटा, हिन्दू है या मुसलमान। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पैदायशी जालिम था, मानव का रक्त बहाने में उसे आनन्द आता था। देखिए ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ २३७-६; युक्तप्रान्तीय ऐतिहासिक सोसायटी के जर्नल, खंड २ भाग दो में प्रकाशित गार्डनर ब्राउन के लेख को भी देखिए।

उसके गर्व, उसकी अति पर उतरी हुई उदारता, प्रजा के प्रति उसकी चिन्ता, साथ ही घृणा भी, विदेशियों के प्रति उसका झुकाव, उसकी न्यायप्रियता और राक्षसी क्रूरता पर आश्चर्य प्रकट किया है और सुलतान के इन विरोधाभासों का कोई कारण बताने में असमर्थ रहे हैं। उनके मत में सुलतान सृष्टि का एक 'अचरज', एक असाधारण नमूना था।"

इतिहास लेखकों का मूल्यांकन

सुलतान के व्यक्तित्व का विवरण जो ऊपर दिया गया है, साधारणतया सही माना जाता है। सम्भव है, वह भी उन व्यक्तियों में से हो जो समय से पहले जन्म लेते हैं। उस काल में उसने जो कुछ किया, जो योजनाएँ उसने जारी कीं, उन्हें कई शतियों बाद व्यवहार में आना चाहिए था। वह क्षमताशाली और योग्य आदमी था, किन्तु शाह के रूप में वह अत्यधिक असफल रहा। फिर भी, उसकी त्रुटियों के सम्बंध में जो धारणाएँ प्रचलित हैं, उनमें संशोधन करने की आवश्यकता है। उसकी प्रत्यक्षतः अनियंत्रित और असंयित योजनाओं पर जो नया प्रकाश इधर पड़ा है और जो नयी व्याख्याएँ हमारे सामने आई हैं, उनके अनुसार अपनी धारणाओं में संशोधन करने की आवश्यकता है। उसकी संकेत मुद्रा सम्बंधी नीति, राजधानी का परिवर्तन, फारस और चीन पर विजय प्राप्त करने की उसकी योजनायें, उसकी क्रूरता और भारी करों का बोझ, इन सबकी फिर से व्याख्या कर सुलतान और उसके उत्तराधिकारी फिरोज शाह—जिसके शासन की काफी प्रशंसा हुई है—की तुलना में संशोधन करने की ज़रूरत है। सच तो यह है कि फीरोज़शाह ने सुलतान की लगाई हुई खेती को ही काटा। उसकी सफलता की ज़मीन पहले ही तैयार हो चुकी थी।*

*सुलतान के व्यक्तित्व का जो संशोधित मूल्यांकन ऊपर दिया गया है, वह जी० जी० ब्राउन पर आधारित है। ब्राउन का मत है कि उस काल के अधिकारी इतिहास-लेखक बरनी और इब्न बतूता, दोनों ने ही, सुलतान का अप्रिय और विरोधी चित्र खींचा है। बरनी ने सुलतान के सम्बंध में सम्भवतः उस समय लिखा था जबकि उसकी आयु और शक्ति क्षीण हो चली थी। सम्भवतः उसका मन खिन्न था और उसका हृदय निजी शिकायतों से भरा हुआ था,—

सुलतान के शासन-काल की घटनाओं की अनुक्रमणिका प्रस्तुत करना कठिन है। सम-सामयिक इतिहास-लेखकों ने तिथियों का विशेष ध्यान नहीं रखा है। बरनी, जो कि हमारा प्रमुख आधार है, घटनाओं के साथ तिथि का विरले ही ध्यान रखता है। इब्नबतूता की भी प्रायः यही स्थिति है। १३३४ से १३४२ तक, एक-दो बार को छोड़ कर, वह बराबर दिल्ली में रहा। उसने अनेक घटनाओं का वर्णन किया है। इनमें से कितनी ही उसकी अपनी आँखों-देखी हैं। १३४२ में, दूत-मंडल के प्रमुख के रूप में, सुलतान के आदेशानुसार, दिल्ली छोड़ कर उसने चीन के लिए प्रस्थान किया। बंगाल और मालाबार होता हुआ वह चीन गया। इस यात्रा का जो विवरण उसने लिखा है उससे पता चलता है कि मुहम्मद की क्रूरता और उसके कुशासन के कारण देश की स्थिति कितनी भयानक हो गई थी। इस दृष्टि से यह यात्रा-विवरण बहुमूल्य सूचनाओं से भरा हुआ है।*

विशेषकर इसलिए कि विदेशियों के प्रति उसके हृदय में उपेक्षा का भाव था जब कि सुलतान विदेशियों का मान करता था।

इब्न बतूता ने सुलतान का आश्रय ग्रहण किया था और १३४२ में सुलतान ने उसे अपने दूत मंडल के साथ चीन भेजा था, किन्तु वह वहाँ तक पहुँच न सका। सम्भवतः वह भी, कुछ निजी कारणों से सुलतान से असन्तुष्ट था—विशेषकर इसलिए कि इस असफलता के बाद उसके प्रति सुलतान का व्यवहार उदारतापूर्ण नहीं रहा। सुलतान सम्बंधी अनेक घटनाओं का वर्णन उसने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर भी लिखा है। फीरोज़ तुगलक के जीवनी-लेखक शम्सी सीराज अफीफ ने अपने स्वामी का अति रंजित गुण-गान किया है। अपने स्वामी को चमकाने के लिए ही सम्भवतः उसने पूर्व-शासक का इतना काला चित्र अपनी जीवनी में दिया है। इसके अतिरिक्त बरनी और इब्न बतूता दोनों ही सुलतान की उदारता और मुल्लाओं के प्रति उसकी उपेक्षा को भी पसन्द नहीं करते थे।

*इब्न बतूता तंजियर का निवासी था। एशिया के अधिकांश भाग की उसने यात्रा की थी। अफ्रीका-स्थित अपने घर पर बैठ कर उसने इन यात्राओं का विवरण लिखा। एलफिन्टन तथा दूसरे इतिहास-लेखकों ने उसके यात्रा-विवरणों के महत्व और विशेषताओं का सार-रूप में उल्लेख किया है। उनके मता-

सल्तनत का विस्तार

सुलतान ने शासन-भार ग्रहण करते ही पहला काम यह किया कि राजधानी के पास के जिलों में जिस प्रकार भूमि-कर से होने वाली आय और खर्च का हिसाब दर्ज किया जाता था, वैसे ही समूची सल्तनत के भूमि-कर और खर्च का हिसाब तैयार करने के लिए आदेश दिया। इस प्रकार कितने ही सूबों का लेखा-जोखा तैयार हो गया। इतनी बड़ी सल्तनत में कोई एक बद्धता नहीं रह गई थी और विद्रोह होते रहते थे। फलतः सुलतान को बहुधा सेनाओं का कमान अपने हाथ में लेना पड़ता था। विद्रोहों का दमन करने में यद्यपि वह सफलता प्राप्त करता था, फिर भी सुदूर प्रदेशों में उसकी अनुपस्थिति के कारण दूसरी जगहों में असन्तोष फूट पड़ता था। इस प्रकार, कहीं-न-कहीं असन्तोष विद्रोह के रूप में प्रकट होता रहता था।*

नुसार उसका यात्रा विवरण सत्य पर आधारित है और उससे भारत के निवासियों के रीति-रिवाज और रहन-सहन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। १३३३ से कुछ वर्षों बाद तक वह भारत में रहा। उसके यात्रा-विवरण के उद्धरण इलियट और डौसन ने दिये हैं। देखिये भूमिका, ब्राडवे ट्रैवलर्सः इब्न बतूता, एच० आर० ए० गिब द्वारा अनुवादित।

*एक इतिहास-लेखक ने सल्तनत के २३ सूबों का उल्लेख किया है जो सोनार गाँव से गुजरात और सिंध तक, और लाहौर से मुल्तान तक फैले हुए थे। इतनी विस्तृत और इतनी शान्दार सल्तनत का उपयोग पहले के और किसी शासक ने नहीं किया था। एडवर्ड टामस के मतानुसार इस सल्तनत के कितने ही भाग असम्बद्ध-से थे। ऐसा होना अनिवार्य भी था। स्थानीय सामन्तो इलाकों पर शाही शासकों ने अधिकार कर लिया था और इस काम के लिए, स्थानिक लोगों का दमन करने के लिए, सभी प्रकार के भले-बुरे विदेशी दुस्साहसिकों का उपयोग किया जाता था। इन लोगों को सल्तनत को मज़बूत और सुव्यवस्थित बनाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अवसरवादी की तरह वह किसी भी विद्रोह में शामिल हो जाते थे। जिसका प्रभाव वह बढ़ता हुआ देखते थे, उसी का साथ देने लगते थे (क्रानीकल्स, पृष्ठ २०३-५) एडवर्ड टामस ने यहाँ तक कहा है कि—"दिल्ली दूर अस्त, वाले पुराने मुहावरे का नये रूप में प्रयोग होने लगा। शाही सेनाएँ विद्रोह के स्थान से, राजधानी के मुकाबले में—जिसकी

१३२७-२८ में शाह के फुफेरे भाई मलिक बहाउद्दीन गुर्शास्प ने, जो कि दक्षिण में स्थित सागर में बहुत ही प्रभावशाली शासक था, विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। उसके विद्रोह ने तेज़ी के साथ गम्भीर रूप धारण कर लिया। देवगिरि के निकट शाही सेना से पराजित होकर वह तुंगभद्रा चला गया। वहाँ पर काम्पली के राजा ने उसे शरण दी। सम्भवतः इस विद्रोह के दमन के दौरान में ही सुलतान को यह बात सूझी कि राजधानी ऐसी जगह होनी चाहिए जिसकी स्थिति, दिल्ली के मुकाबले, अधिक अनुकूल हो। फलतः उसने देवगिरि को, जो अपनी स्थिति के कारण सल्तनत का केन्द्र बन सकती थी, अपनी राजधानी बनाया। इसका नाम बदल कर उसने दौलताबाद† रख दिया (१३२७) विद्रोह का शीघ्र ही दमन करने

स्थिति विकट थी—कम निकट होती थी। राजधानी से दक्षिणी इलाके इतने दूर थे कि दोनों को एक साथ संभालना कठिन था। यही कारण है जो देवगिर के मध्य में स्थित होने के कारण दिल्ली पर हावी होने की सम्भावना बराबर बनी रहती थी। इसके अलावा सड़कों और राजमार्गों की स्थिति भी बाधक थी और देश का अधिकांश भाग अरक्षित था। इन्हीं सब कारणों से सूबों को अपने वश में रखना कठिन हो गया था।

†दौलताबाद, इसमें सन्देह नहीं, मध्य में स्थित था और यहाँ से सुगमता के साथ तैलंगाना और दक्षिण को अपने वश में किया जा सकता था। यहाँ का पहाड़ी दुर्ग प्राकृतिक दृष्टि से, अधिक अभेद्य और सुरक्षित था। उत्तरी भारत में अब अपेक्षाकृत शान्ति थी और मंगोलों के आक्रमण फिलहाल बंद थे। इस काल में सुलतान ने दो विशेष कार्य किये। एक तो यह कि उसने दौलताबाद को अपनी राजधानी बना लिया और अपने सभी अधिकारियों को वहीं अपने घर बना कर बसने के लिए बाध्यः किया। दूसरा कार्य सुलतान ने इसके दो वर्ष बाद किया। वह यह कि उसने दिल्ली के निवासियों को, सामूहिक रूप से, दौलताबाद में चलकर बसने का आदेश दिया। यह आदेश शासन-व्यवस्था की दृष्टि से नहीं वरन् दिल्ली के निवासियों को दंडित करने के लिए दिया गया था (हैग, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ १४१-२)

राजधानी के परिवर्तन को अबुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु इससे कठिनाइयों और मुसीबतों की मात्रा बहुत बढ़ गई। बरनी और इब्न बतूता दोनों ने ही इस 'गलती' को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है। इसके कारण होने

के पश्चात सुलतान ने काम्पली पर अधिकार कर लिया। गुर्शास्प को द्वार समुद्र के राजा ने सुलतान को समर्पित कर दिया। काम्पली के राजा ने गुर्शास्प को द्वार समुद्र के राजा को सौंप दिया था।

इसी वर्ष में या इसके कुछ ही बाद मुल्तान और सिंध के शासक किशलूखाँ ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का दमन करने के लिए सुलतान ने मुल्तान पर चढ़ाई की और विद्रोह का दमन कर किशलूखाँ का कत्ल कर दिया। मुल्तान के बाद सुलतान दिल्ली की ओर बढ़ा जहाँ, दोआब में, उपद्रव उठ खड़े हुए थे। इस बार दिल्ली में आने पर ही सुलतान राजधानी के निवासियों और दोआब के किसानों से क्रुद्ध हो उठा। दिल्ली के निवासियों पर उसने मंगोलों को निमंत्रित करने का आरोप लगाया। दोआब के किसानों के कर की उसने वृद्धि कर दी,—कुछ तो उन्हें दंडित करने के लिए और कुछ अपने खजाने की क्षति-पूर्ति करने के लिए। किन्तु ये दोनों उद्देश्य पूरे न हो सके।

इन्हीं दिनों सुलतान ने अपनी संकेत-मुद्रा का चलन किया। उसकी संकेत-मुद्रा-नीति को सभी ने पागलपन और मूर्खता से पूर्ण कहा है।* किन्तु यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान से

वाली जनता की तकलीफों का भी उन्होंने अतिरंजित वर्णन किया है। इब्न बतूता ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो निवासी बच रहे थे सुलतान ने उन्हें खोज-खोज कर पकड़वाया और दौलताबाद भेजा। किन्तु जब सुलतान ने अपनी इस योजना की असफलता का अनुभव किया तो उसने लोगों को दिल्ली लौटने की अनुमति दे दी। किन्तु दिल्ली को, अपने पुराने रूप में आने में, बहुत दिन लगे।

*राजधानी के स्थानान्तरित होने, दौलताबाद को राजधानी के उपयुक्त बनाने बहाउद्दीन और किशलू खाँ के विद्रोहों का दमन करने, कर-नीति के विफल होने तथा देश में निरन्तर अकाल की स्थिति ने, इसमें सन्देह नहीं, सरकारी खजाने पर अत्यधिक बोझ डाला होगा। इनके सिवा सुलतान की आकांक्षाएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं और उनकी पूर्ति के लिए उसे काफी बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। खुरासान तक पर वह विजय प्राप्त करना चाहता था। अतः यह कहना कि वह अपनी प्रजा को धोखा देना चाहता था, गलत होगा। मुद्रा-सुधार के सम्बंध में वह बराबर, अपने समूचे शासन काल में, सोचता रहा था। उसके सामने

देखें तो उसकी संगत व्याख्या करने में समर्थ हो सकते हैं। कर-नीति के असफल हो जाने पर भी सुलतान के खजाने का दीवाला नहीं निकल गया था। असल में बात यह थी कि देश में निरन्तर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसके कारण कर वसूल नहीं हो पाता था। यह सरकार के वश में नहीं था कि वह जाली संकेत-मुद्राओं का बनाना और उनका चलन रोक सके।—जाली सिक्कों के रूप में ही लोग कर देते थे और इस प्रकार सरकार को भी धोखा खाना पड़ता था। सोने और चांदी की देश में कमी हो गई थी—और समूचा व्यापार, जो विशेष कर विदेशों से होता था, ठप्प हो गया था।

विदेशी व्यापारी जो माल खरीदते थे, उसका मूल्य तो संकेत मुद्राओं में देते थे, किन्तु जो माल बेचते थे उसका मूल्य संकेत-मुद्राओं में नहीं स्वीकार करते थे। सुलतान ने जब देखा कि उसकी संकेत-मुद्रा नीति सफल नहीं हो रही है तो उसने संकेत-मुद्राओं के स्थान पर लोगों को अच्छी मुद्राएँ देने की सुविधा प्रदान कर दी। खज़ाने में असली मुद्राओं की कमी न थी। इस प्रकार उसने जनता के विश्वास को फिर से प्राप्त कर लिया और लोग संकेत-मुद्रा की बात को भूल-से गए।

महान तातार, कुबलाखाँ और फारस के बादशाह गैखात् के उदाहरण थे। इन सभी ने संकेत मुद्राएँ जारी की थीं और प्रजा के बहुत दुःख का कारण बने थे। किन्तु सुलतान ने, उनकी तरह, अपने आदेश की पूर्ति कराने के लिए दंड निर्धारित नहीं किए। संकेत-मुद्रा की सीमाओं से वह अपरिचित नहीं था। जब उसने देखा कि उसकी नीति सफल नहीं हुई तो उसने संकेत-मुद्राओं को वापिस ले लिया। (देखिए ईश्वरीप्रसाद, मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ ३४४-४८; साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मैगज़ीन (हस २२) में प्रकाशित उनका लेख (मुहम्मद तुगलक एज़ ए फाइनैन्शियर भी देखिए; ई० टामस, क्रानीकल्स, पृष्ठ २३९-२४१ भी देखिए)

सुलतान ने सोने, चाँदी और ताम्बे की मुद्राएँ जारी की थीं। सोने और चाँदी की मुद्राओं का आनुपातिक मूल्य आठ और एक था। अपने शासन के काल के प्रारम्भ में ही उसने मुद्रा-प्रणाली में फेर फार कर उसे नया रूप दिया था।

१३३० के अन्त में सुलतान दौलताबाद लौटा। इसके बाद अगले दो वर्षों तक कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी। किन्तु स्थिति बराबर बद से बदतर होती जा रही थी। सुलतान की विजयाकांक्षा सीमाहीन हो चली थी और वह आक्सस-पार के इलाकों और फ़ारस पर विजय प्राप्त करने के सपने देख रहा था। इन प्रदेशों के कितने ही निवासियों का, विशेषरूप से खुरासानियों और मुगलों को भारत में बसने के लिए प्रचुर प्रलोभन देना सुलतान ने शुरू कर दिया था।*

दोआब की स्थिति

भारी करों के बोझ के नीचे दोआब के किसान कराह उठे। सुलतान के अधिकारी बढ़े हुए दर पर करों को वसूल करते थे और यह देखने की चिन्ता नहीं करते थे कि अकाल के कारण किसान कितने त्रस्त हो गए हैं। अकाल ने किसानों की कमर तोड़ दी थी। कितनों ने विद्रोह कर दिया और कितने डाकू बन कर लूट-मार करने लगे। स्थिति इतना बिगड़ चला कि आखिर सुलतान को दौलताबाद से दिल्ली आना पड़ा। उसने सम्पूर्ण इलाके के साथ शत्रु-वत व्यवहार किया। उसने किसानों को दंडित करने के लिए अपने सैनिकों को छोड़ दिया। इन सैनिकों ने फसलों के साथ-साथ किसानों का भी संहार किया। सुलतान ने स्थिति को सुधारने की ओर ध्यान भी दिया किन्तु बहुत बाद में। उसने कुयें खोदवाए और किसानों को कर्ज़ देने के आदेश जारी किए। किन्तु यह आदेश उस समय आए जब बहुत देर हो चुकी थी, जब जनता, सात वर्ष लम्बे अकाल की मार से निर्जीव-सी हो चुकी थी। वह अब इस योग्य नहीं रही थी कि इन आदेशों से लाभ उठा सकती—"निराशा के भूत ने उसे पूरी तरह से आच्छादित कर लिया था।"

*इन लोगों ने, विशेषकर खुरासानियों ने, सुलतान के उस तरह के प्रयत्नों को बढ़ावा दिया। अपनी विजयाकांक्षा की पूर्ति के लिए सुलतान ने पूरे एक वर्ष तक ३७०,००० सैनिकों की सेना के बोझ को संभाला। किन्तु मिश्र के सुलतान और मंगोल शासक तरमाशीरीं ने जो सहायता करने का वचन दिया था, उसे पूरा नहीं किया। फलतः सुलतान को शीघ्र ही आक्रमण की योजना को छोड़ देना पड़ा,—और ऐसा करके उसने बुद्धिमानी का काम ही किया।

इसी बीच जलालुद्दीन अहसान ने, जिसका हैडक्वार्टर दक्षिण में मदुरा में था और जो मावर (कोरोमण्डल तट के प्रान्त का शासन करता था, १३३४-३५ ईसवी में, विद्रोह कर दिया * उसके विद्रोह का दमन करने के लिए सुलतान दिल्ली से रवाना हुआ और दौलताबाद होता हुआ तेलंगाना पहुँचा। वारंगल में महामारी का, सम्भवतः हैज़े का, आक्रमण हुआ जिसके कारण भारी संख्या में सैनिक मौत के मुँह में चले गए। स्वयं सुलतान पर भी इसका आक्रमण हुआ और आगे बढ़ना उसके लिए सम्भव न हो सका। फलतः मावर का दमन न हो सका और वह पूरे पचास साल तक स्वतंत्र बना रहा—जब विजय नगर के रायों ने आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया।

उत्तरी तथा दक्षिणी तैलंगना के शासन की समुचित व्यवस्था करने और दौलताबाद में होने वाले एक विद्रोह का दमन करने के बाद सुलतान १३३७ के मध्य में दिल्ली लौट आया।* जब वह मालवा में से गुज़र रहा था, उस समय वहाँ भयानक अकाल फैला हुआ था। दिल्ली की स्थिति भी उतनी ही खराब थी।

---

*बरनी तथा दूसरे इतिहास लेखकों ने इस विद्रोह की जो तिथि बतलाई है, वह ठीक नहीं है। इब्न बतूता ने सही तिथि बताई है। उसकी तिथि की पुष्टि अहसान शाह के सिक्कों से भी हो जाती है जिसने ७३५ हिजरी में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। कुछ इतिहास लेखकों ने अहसान शाह और बहमनी वंश के संस्थापक अलाउद्दीन हसन खाँ को, जो कि बाद में हुआ था, एक समझने की भी भूल की है। मदुरा की सलतनत १३००-१ तक चलती रही। अन्त में विजयनगर में वह सम्मिलित कर ली गई। (देखिए हैग, जे० आ० ए० एस०, १९२२, पृष्ठ ३४४-५)

* लौटते समय सुलतान दांत के तेज़ दर्द से पीड़ित थे। दर्द इतना बढ़ा कि दांत को निकलवा कर दफना देना पड़ा। यह सुलतान की तत्कालीन मनःस्थिति और दम्भ का द्योतक है कि सुलतान ने, जहाँ दाँत दफनाया गया, वहाँ एक गुम्बद—दाँत की कब्र—बनवा दी। बीर के निकट दांत का यह मकबरा आज दिन भी खड़ा है। (निज़ाम के पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (१९२०-२१, पृष्ठ १४)

इसी बीच लाहौर में एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। कुछ कठिनाई के साथ ख्वाजा जहान ने इस विद्रोह का दमन कर दिया। इसके बाद दिल्ली के आस-पास के इलाकों में और बाहर छिट पुट विद्रोह हुए। साथ ही सुलतान ने तिब्बत की घातक विजय के लिए जो सेना भेजी थी, वह असफल हुई और अधिकांश सेना, जो काफी बड़ी थी, मारी गई (१३३७-३८ ईसवी)। * किन्तु जिस उद्देश्य से यह सेना तिब्बत भेजी गई थी वह पहाड़ी कबीलों का दमन कर उन्हें अपने वंश में करना ही था—वह पूरा हो गया। इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप एक बहुत बड़ी सेना तो नष्ट हुई ही, उसमें शाही खजाना भी बहुत कुछ खाली हो गया और सुलतान की शक्ति और प्रतिष्ठा को भी गहरा धक्का लगा। सुलतान की प्रतिष्ठा को नीचे गिरते देख सर्वत्र असन्तोष को विद्रोह के रूप में फूटने का अवसर मिल गया

दोआब की पीड़ित जनता

१३३५ ईसवी से सुलतान की शक्ति का प्रत्यक्ष ह्रास शुरू हो गया। माबार (कोरोमण्डल तट) के स्वतंत्र हो जाने से इसका सूत्रपात हुआ। निरन्तर अकाल की स्थिति के कारण दोआब की पीड़ा का अन्त नहीं था। केवल अवध का सूबा एक ऐसा था जो भूखी जनता को अन्न दे सकता था। ऐनुल्मुल्क के सुशासन में अवध की स्थिति अच्छी थी। दिल्ली से डेढ़ सौ मील की दूरी पर, गंगा के तट पर, सुलतान ने एक नये नगर को, जिसका नाम स्वर्ग द्वार रखा गया, बसाया। यहाँ भूखे लोगों को, अवध से प्राप्त अन्न से,

* बरनी जैसे इतिहास-लेखकों ने इस आक्रमण को बढ़ा चढ़ा कर चीन विजयाभिक्रमण के रूप में वर्णन किया है। किन्तु इसका उद्देश्य, चीन की विजय न होकर, हिमालय के निम्न प्रदेश में रहने वाली पहाड़ी जातियों और उनके राज्यों का दमन करना था। ये पहाड़ी राज्य कांगड़ा—जो कि इसी वर्ष सुलतान के प्रभुत्व में आ गया था—की राजधानी नगर कोट के पड़ोस में स्थित थे। कराजल का जिला, जिसके विरुद्ध सुलतान ने चढ़ाई की थी, १३४१ से पूर्व सुलतान के हाथ में आ गया। इसके बाद सुलतान को बाढ़ बीमारी और पहाड़ी जातियों के फन्दों और जाल से हार मान कर पीछे हटना पड़ा। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शतियों में चीन की सीमाएँ भारत की सीमाओं के बहुत निकट थीं।

भोजन दिया जाता था। सुलतानने देश को प्राय: १८०० वर्ग मील वर्गाकार जिलों में विभाजित करने का प्रयत्न किया जिससे इन ज़िलों में तेज़ी और तत्परता के साथ कृषि को आगे बढ़ाया जा सके। किन्तु सुलतान की योजना निरी योजना ही बनी रही और अमल में नहीं लाई जा सकी।

इसी बीच, उस समय जबकि सुलतान नयी जगह में था, पूर्वी बंगाल के शासन के एक कप्तान फ़खरुद्दीन ने अपने स्वामी की हत्या कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। सुलतान हिमालय के इलाके में होने वाली सैनिक कार्यवाही और अकाल पीड़ितों के सहायता-कार्य में इतना व्यस्त था कि बंगाल के विद्रोह (१३३८-३९ ईसवी) का दमन करने के लिए सेना न भेज सका। फलतः बंगाल हाथ से निकल गया और फ़खरुद्दीन बंगाल का प्रथम स्वतंत्र शासक हुआ।

इसके कुछ बाद ही दक्षिण में विद्रोह हो गया। फिर अवध ने विद्रोह किया। अवध का सूबेदार ऐनुलमुल्क था। वह शक्तिशाली था और उसी ने विद्रोह का नेतृत्व किया। इन विद्रोहों का दमन करने में यद्यपि सुलतान सफल हो गया, किन्तु इनसे उसकी प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई। अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए सुलतान ने अब इसलाम के खलीफा की मदद लेनी चाही। किन्तु इसके लिए कौन खलीफा उपयुक्त होगा, यह तय करना कठिन था।* अन्त में मिश्र के खलीफा ने उसके सिर पर हाथ रखना स्वीकार किया। वह अब्बासी वंश का था। उसी के यहाँ सुलतान ने अपना आवेदन पत्र भेजा और सिक्कों पर, अपने नाम की जगह, उसी का नाम अंकित करना शुरू कर दिया।

इब्न बतूता ने, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, १३४२ में शाही

---

* बगदाद के अब्बासी वंश के खलीफा एक मुद्दत से शाही तुर्की नगर-वासियों के हाथ की कठपुतली बन गए थे और १२५८ में मुगलों के आक्रमणों ने उनके रहे-सहे अस्तित्व का अन्त कर दिया। यात्रियों और विदेशियों से काफी पूछ-ताछ करने के बाद सुलतान को मिश्र के खलीफा का पता चला। सुलतान ने उसके पास अपना विनम्र आवेदन पत्र भेजा और सिक्कों पर, बजाय अपने, खलीफा का नाम अंकित करने की अनुमति प्राप्त कर ली।

दूत के रूप में चीन के लिए प्रस्थान किया। उसने अपनी यात्रा का जो वर्णन लिखा, उससे पता चलता है कि किस प्रकार प्रत्येक सूबे में विद्रोह ने सिर उठाना शुरू कर दिया था और एक भी ऐसा मुसलमान कप्तान नहीं था जो अपने को सुरक्षित समझता हो। अपनी धरती और गाँवों को छोड़ कर हिन्दू किसानों के दल-के दल डाकुओं से मिल गए थे। जंगलों में उन्होंने अपने अड्डे बना लिए थे। अमीरों में तीन भिन्न दल हो गए थे,—(१) खान्दानी अमीर जो प्रभावशाली थे और जिनके अनुयायी भी काफी थे, (२) दास तथा दूसरे लोग जो शाही कृपा से ऊँचे पदों पर हो गए थे और जिनका उपयोग, खान्दानी अमीरों के विरुद्ध किया जाता था, (३) सादा अमीरों का वह दल जो सौ का अमीर कहलाता था और मुगल आक्रमणकारियों के साथ आया था तथा खिलजी के काल में यहाँ बस गया था। अलाउद्दीन ने इस दल के अमीरों के साथ बुरा व्यवहार किया था। तभी से वे उपद्रव का कारण बने हुए थे। कितने ही विद्रोहों का उन्होंने नेतृत्व किया था और सुलतान की नींद उन्होंने हराम कर दी थी। सुलतान भी उन्हें ही सब उपद्रवों की जड़ समझता था। ये अमीर, सुलतान के शब्दों में, लूट-मार के खयाल से, हर विद्रोही दल के साथ हो जाते थे। मालवा, गुजरात और दक्षिण में इन्होंने अपने मज़बूत गढ़ बना लिए थे।

मालवा और गुजरात में उनका विद्रोह

अमीरों के उपद्रवों का दमन करने के लिए सुलतान ने तेज़ उपायों से काम लिया। उसने दक्षिण की शासन-व्यवस्था का पुनर्संगठन करने का भी प्रयत्न किया, कितने ही ज़िलों की मालगुज़ारी बढ़ा दी और उसकी वसूली के लिए कड़ा प्रबंध किया। जब उसने गुजरात के विद्रोह के सम्बंध में सुना तो उसने तुरंत गुजरात पर चढ़ाई कर दी और उपद्रवकारियों को पराजित कर तितर-बितर कर दिया। इनमें से बहुत से देवगिरि और बलगाना के पहाड़ी ज़िलों में जा छिपे। कुछ काल तक सुलतान ने गुजरात में ही रह कर मालगुजारी आदि की वसूली का प्रबंध किया और जो अमीर पकड़ में आए उनका निर्भयता के साथ दमन किया।

दक्षिण के उपद्रव

गुजरात के अमीरों के दमन से दक्षिण के विदेशी अमीरों के असन्तोष में वृद्धि हो गई। देवगिरि के सूबेदार के विरुद्ध उन्होंने खुलकर विद्रोह कर उसे कत्ल कर दिया, दुर्ग में संचित खजाने पर अपना अधिकार कर लिया और अपने में से एक अमीर, इस्माइल मारव अफगान को, जो उनका सरदार था, गद्दी पर बैठा दिया (१३४६-४७)।

मुहम्मद बिन तुगलक ने स्वयं देवगिरि पर चढ़ाई की, देवगिरि पर अधिकार किया और विद्रोहियों को तितर-बितर कर दिया। गुलबर्गा की ओर भाग गए। देवगिरि की स्थिति को सुधारते समय सुलतान को मालूम हुआ कि तगी नामक एक दास ने, कुछ विदेशी अमीरों के साथ, गुजरात में फिर विद्रोह कर दिया है। फलतः उसने फिर गुजरात पर चढ़ाई की और उपद्रवकारियों का दमन करने में उसे कठिनाई का सामना करना पड़ा। तगी ने भाग कर सिंध में शरण लेने में सफलता प्राप्त की।

दक्षिण की स्वतंत्रता

इसी बीच, दक्षिण के वे विद्रोही जो भाग कर गुलबर्गा चले गए थे, बहुत बड़ी सेना लेकर लौट आए और उन्होंने शाही सेना को मालवा और अधिकृत देवगिरि की ओर भागने के लिए बाध्य कर दिया। हसन खाँ, जो उनका नेता था, शाह बन बैठा (अगस्त-१३४७)। अलाउद्दीन बहमन शाह के नाम से उसने दक्षिण में बहमनी वंश की स्थापना की। दक्षिण के द्वार पर स्थित सूबों ने भी अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इस प्रकार, तुंगभद्रा के दक्षिण का समूचा प्रदेश स्वतंत्र हो गया। इसी समय वारंगल के हिन्दुओं ने भी अपनी सत्ता और शक्ति को फिर से स्थापित कर लिया।

गुजरात और सिंध में सुलतान

सुलतान ने दक्षिण पर फिर से अधिकार करने का प्रयत्न फिलहाल छोड़ दिया। इससे भी पहले उसने राजद्रोही तगी का दमन

करने का निश्चय किया।* फलतः उसने गिरनार की ओर, वहाँ से सुमेर जाति के प्रदेश ठट्टा (सिंध) की ओर प्रस्थान किया। बरनी के कथनानुसार गुजरात की स्थिति को सुधारने में सुलतान को तीन वर्ष लग गए। काफी बड़ी सेना के साथ जब वह ठट्टा के निकट पहुँचा तो सुलतान को ज्वर ने ग्रस लिया और कुछ दिनों की बीमारी के बाद, मार्च १३५१ में, उसका देहान्त हो गया। बरनी के शब्दों में मृत्यु ने "शाह को प्रजा से और प्रजा को शाह से मुक्त कर दिया।"

सुलतान की मृत्यु के समय बंगाल और माबर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर चुके थे। बहमनी सुलतान के नेतृत्व में दक्षिण निरंकुश हो उठा था। विजयनगर भी सशक्त हो चुका था। किन्तु भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य अभी भी अखंडित था। सिन्धु नदी उसकी पश्चिमी सीमा निर्धारित करती वह रही थी सुलतान की दमनकारी और नृशंस नीति के फलस्वरूप सल्तनत संकुचित होना अनिवार्य था।

सुलतान के शासन का लेखा-जोखा

मुहम्मद बिन तुगलक के शासन की महान् असफलता का कारण कुछ अंशों में उसका स्वभाव और नीति-कुशल न होना है, किन्तु प्रमुख रूप से ऐसी परिस्थितियों का उपस्थित होना है जो उसके वश से बाहर थीं। निरन्तर दस वर्षों के गहरे अकाल से त्रस्त जनता सुलतान के विरुद्ध हो गई थी। इसमें सन्देह नहीं, सुलतान में कुछ अच्छी बातें भी थीं। एक प्रकार से वह उदार-मस्तिष्क था और अपने से पहले के शासकों के अनुपात में "हिन्दुओं

* सुलतान इतना निरुत्साहित हो गया था कि वह बरनी से परामर्श कर यह भी नहीं जान सका कि समान परिस्थितियों में अन्य शाहों ने कैसे और क्या उपाय किये। बरनी ने कह दिया था कि ऐसी स्थिति में सुलतान को या तो राजत्याग देना चाहिए या अधिकार के सक्रिय प्रयोग से अपना हाथ खींच लेना चाहिए। किन्तु सुलतान बरनी के परामर्श की उपेक्षा कर दंड द्वारा लोगों को ठीक करने के प्रयत्नों में लगा रहा। उसका कहना था— मैं लोगों को दंडित करता हूं। इसलिए कि वे एकबारगी मेरे शत्रु और विरोधी बन गए हैं।" इलियट और डौसन, खंड ३, पृष्ठ २५४-६)।

की धार्मिक भावनाओं के प्रति अधिक उदारता से व्यवहार करता था।" कितने ही हिन्दुओं को उसने ऊँचे पदों पर भी नियुक्त किया था। सती-प्रथा को रोकने का भी उसने प्रयत्न किया था और राजपूत रियासतों पर आँच नहीं आने दी थी। उलमाओं के हाथ की वह कठपुतली नहीं बना और न्याय के मामले में बड़े छोटे का ध्यान नहीं रखता था।

सुलतान की न्याय प्रणाली का इब्न बतूता ने सविस्तर वर्णन किया है। उसके न्याय की निष्पक्षता ने अमीर-वर्ग के लोगों को असन्तुष्ट भी कर दिया था। काफी बड़ी संख्या में उसने विदेशियों को अनेक पदों पर नियुक्त किया था। उनके साथ उदारता का व्यवहार करता था और योग्य व्यक्तियों को बाहर से बुलाने में नहीं चूकता था। इन्हीं सब बातों से खान्दानी अमीर और अधिकारी वर्ग के लोग सुलतान से असन्तुष्ट रहने लगे। बरनी भी इन्हीं लोगों में था। जो कसर रह गई उसे सुलतान के न्याय की निष्पक्षता ने पूरा कर दिया। फलतः उलमाओं और काजियों ने—धर्माधिकारी वर्ग ने—सुलतान को फिजूल खर्च कह कर बदनाम करना आरम्भ कर दिया। "यह जो सुलतान को नृशंस, रक्तपिपासु कह कर नीरो और कैलीगुल की श्रेणी में रखा जाता है, वह गलत है।' इस तरह के आरोप सुलतान के साथ, उसकी महान् प्रतिभा के साथ, न्याय नहीं करते और उसके उन प्रयत्नों की उपेक्षा करते हैं जो उसने अकाल को दूर करने के लिए किए। व्यावहारिक सुधारों के लिए उसके पास बुद्धि भी थी और लगन भी जिसका, मध्यकाल के शासकों में, प्रायः अभाव पाया जाता है। विकट समस्याएँ उसके सामने प्रस्तुत थीं। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सल्तनत और बराबर षड्यंत्रों की रचना करनेवाले अधिकारियों को संभालना सहज काम न था। इन सब बातों और अत्यन्त जटिल परिस्थितियों को देखते हुए सुलतान के व्यक्तित्व और नीति सम्बंधित प्रचलित धारणा में संशोधन करने की आवश्यकता है।*

[२]

फीरोज़शाह और परवर्ती तुगलक

सुलतान की मृत्यु के समय सेना की स्थिति बहुत बुरी थी

* ईश्वरी प्रसाद, मेडीविअल इंडिया, पृष्ठ २५६

और अव्यवस्थित रूप में उसे पीछे हटना पड़ा। १३५१ में राजधानी छोड़ते समय सुलतान ने अपने फुफेरे भाई फीरोज़ बिन रजब को शाही कारबार की देख-भाल करने के लिए नियुक्त कर दिया था। मृत्यु के समय भी वह सुलतान के निकट उपस्थित था। कुछ दुविधा के बाद उसने कमान अपने हाथ में लिया और, बिना किसी बड़ी दुर्घटना के, सेना को दिल्ली तक वापिस ले आने में उसने सफलता प्राप्त की। दिल्ली के नागरिकों और मलिक मकबल खाँ ने, जो तैलंगाना का निवासी था और जिसने धर्म-परिवर्तन कर इसलाम को स्वीकार कर लिया था, उसका साथ दिया। फीरोज़ बिन रजब ने उसे अपना वज़ीर बना लिया। बरनी और शम्सी सिराज आफ़िफ दोनों ने यह कहा है कि स्वयं सुलतान ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सुलतान के एक नाबालिग पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया गया था।* उसे शीघ्र ही हटा कर फीरोज़ के लिए जगह खाली कर दी गई।

सुलतान का चरित्र

नये सुलतान को उसके भाई ने शासन-कार्य में भली भाँति दीक्षित कर दिया था। फलतः उसे शासन-कार्य का अनुभव प्राप्त था। लेकिन उसमें साहस का अभाव था, और उसमें वह लगन नहीं थी जो एक योद्धा के हृदय में होती है। वह अनिश्चित मत और ढुलमुल स्वभाव का व्यक्ति था। वह कट्टर और अनुदार हृदय का मुसलमान था। अपने धार्मिक कर्तव्यों का नियमित रूप से पालन करता था। शरीयत के सीधे मार्ग पर वह चला और उसी के अनुसार उसने शासन को चलाया। मुनकिरों और धर्म-द्रोहियों का उसने दमन किया और धर्म-परिवर्तन की नीति को प्रोत्साहन

---

* बरनी और तारीखे फीरोज़ शाही के लेखक शम्सी सिराज को इलियट और डौसन ने खंड ३ में उद्धृत किया है। ये दोनों ही फीरोज़ के समर्थक थे। उनके कथनानुसार सुलतान फीरोज़ को अपने पुत्र के समान मानता था। नाबालिग पुत्र का समर्थक ख्वाजा जहान था। फीरोज़ के मार्ग में उसने कोई बाधा नहीं डाली। बाद में कुछ अमीरों ने ख्वाजा जहान को मार डाला। हैग का मत है कि फीरोज़ जायज उत्तराधिकारी नहीं था और यह उसकी अनधिकार चेष्टा थी जो सुलतान के पुत्र को हटा कर स्वयं गद्दी पर बैठा।

दिया। औरंगजेब की तरह वह धर्मांध था, किन्तु औरंगजेब के अन्य गुण उसमें नहीं थे। *

काज़ियों और मौलवियों की सलाह के बिना वह कोई काम नहीं करता था। अंधविश्वासों से वह घिरा हुआ था और कुरान को हाथ में लिए बिना किसी काम का श्रीगणेश वह नहीं करता था। किन्तु इसके साथ-साथ उसमें कुछ गुण भी थे। रक्तप्लावन से उसे घृणा थी, यंत्रणा देने की प्रणाली को उसने शाही फरमान जारी करके बंद कर दिया था और वह गुप्तचरों को प्रोत्साहित नहीं करता था। शासननीति में सुधार का वह पक्षपाती था, विद्वानों को प्रोत्साहित करता था और मुस्लिम धर्म-शास्त्र के अध्ययन के लिए उसने संस्थाएँ—मकतब—खोले थे। किसानों की दशा सुधारने के लिए वह चिन्तित रहता था। नहरें आदि खोदवा कर उसने आबपाशी की सुविधाओं में वृद्धि की और दिल्ली में एक अस्पताल भी बनवाया। इमारतें और बाग बनवाने का वह प्रेमी था। उसने कई नये नगर भी बनवाए। दिल्ली से दस मील दूर, जमुना के तट पर, उसने फीरोज़ाबाद की नींव डाली जहाँ वह स्वयं बहुधा रहा करता था। दिल्ली के सूबे में ही उसने हिसार फीरोजाबाद और फतेहाबाद नाम के दुर्ग बनवाए। बदायूँ के निकट फीरोज़पुर और अपने

---

* उसकी मदांधता से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उसकी अति-प्रशंसा की है। बरनी ने लिखा है कि मुहम्मद गोरी के बाद दिल्ली के तख्त पर इतना विनीत और धार्मिक वृत्ति वाला शासक दूसरा कोई नहीं बैठा। आफिफ का भी फीरोज़ के दरबार से सम्बंध था और सुलतान के साथ दौरे और शिकार पर वह जाता था। उसने सुलतान की अथक प्रशंसा की है और उसे, उसके पहले के शासक के मुकाबले में, खूब बढ़ा-बढ़ा कर दिखाया है। मुहम्मद बिन तुगलक के काल के भारत की उसने काफी काली तस्वीर खींची है, यह इसलिए कि उसकी पृष्ठ भूमि में अपने 'अन्नदाता' फीरोज़ में अधिक चमक पैदा कर सके। फीरोज को, 'चौदहवीं शती के इस अकबर' को, उसने चमकदार रंगों में रंगा है और उसके गुणों की, उदारहृदयता और सत्कृत्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। (इलियट और डासन, खंड ३, तारीखे फीरोज़ शाही, पृष्ठ २६६)

फुफेरे भाई सुलतान मुहम्मद जूना की याद में जौनपुर को उसने बसाया। जिन दो अशोक स्तम्भों को वह उनके मूल स्थान से उठवा कर ले आया था, उनमें से एक को उसने फीरोज़ाबाद में स्थापित करा दिया।

१३३५ में उसने सतलज से एक नहर निकलवाई। इसके अगले वर्ष उसने जमुना से काट कर एक नहर हांसी तक निकाली। इसी के निकट उसने हिसार फीरोज़ दुर्ग बनवाया। फरिश्ता के अनुसार सार्वजनिक हित के लिए उसने अनेक नहरें, पुल, स्नान घर, दुर्ग, मकतब और सराय बनवाई थीं। दिल्ली के निकट उसने अनेक बाग लगवाए थे। नहरें बनाने का काम उसने कुशल इंजीनियरों को सौंपा था, किसानों पर एक नया सिंचाई-कर लगाया था और खेती के लिए व्यापक क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। नहरों और आबपाशी की सुविधाओं के लिए सलतान का नाम आज दिन भी लिया जाता है। इसके सिवा मकबल खाँ और उसके पुत्र जैसे योग्य और दृढ़ व्यक्तियों से सहायता लेने के लिए वह सदा तत्पर रहता था। दीर्घकाल तक मकबल खाँ उसका प्रधान वज़ीर रहा। १३७२ में मकबल खाँ का, देहान्त हो गया। उसके बाद उसका योग्य पुत्र जहान शाह वज़ीर बना और कई वर्ष तक इस पद को सुशोभित करता रहा।

अतिरंजित प्रशंसा

कुछ इतिहास-लेखकों ने फीरोज़ की अत्यधिक प्रशंसा की है और उसे ऐसा शासक बताया है जिसने, अपनी सहृदयता और उदारता से, किसानों के हित में एक नयी शासन-नीति का सूत्रपात किया। यह बहुत कुछ ठीक भी है किन्तु यह कहना कि "सार्वजनिक हित के उसके कार्य उन ऊँचे शाही आदर्शों से अनुप्राणित थे जिन्हें उसने अपनी राजपूत माँ से प्राप्त किया था" और यह कि उसकी "सहृदयता और उदारता, उसकी कुलीनता, आर्य-परम्परा की देन है जिसे उसने अपनी माँ की गोदी में बैठ कर सीख था"—जैसा कि ई० बी० हैवल और सर एच, इलियट ने कहा है—यह सब अति-प्रशंसा का द्योतक है। इसी प्रकार, केवल कुछ शासन सम्बंधी और मानवोपयोगी सुधारों के बल पर, दुर्बलहृदय फीरोज़ की अकबर

महान् और अशोक से तुलना करना भी अतिरंजन ही कहा जाएगा। *

दोषपूर्ण रण-नीति

सुलतान की विदेशी नीति, अधिकांश में, असफल रही। इसमें सन्देह नहीं कि वह, अपने गद्दी पर बैठने के समय, सेना को सिंध से दिल्ली तक लाने में—बावजूद उन मंगोल सैनिकों के आक्रमण के जिन्होंने, कुछ वर्ष बाद, दीपालपुर तक पर आक्रमण किया था—सफलता प्राप्त की थी। उसका दीर्घ शासन-काल भी, काफी हद तक, मंगोल आक्रमणों से मुक्त रहा—केवल दो आक्रमणों का उल्लेख मिलता है और दोनों ही बार मंगोल खदेड़ दिये गए। किन्तु उसका नेतृत्व, जैसा कि बंगाल पर उसके दो आक्रमणों के अवसर पर प्रकट हुआ (१३५३-५४ और १३५९-६० ईसवी) रण-नीति और

* देखिए हैवल कृत 'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इंडिया" (१९१८) पृष्ठ ३१७ और ३१९, इलियट और डौसन खंड ३, पृष्ठ २६९-७० भी देखिए। फीरोज़ का इतिवृत्त लिखनेवालों ने उसके मानवीय और शाही गुणों का कारण वह अनुभव बताया है जो उसने अपने से पहले सुलतान से प्राप्त किया था। साथ ही इसलाम में उसकी भक्ति को भी इसका श्रेय दिया गया है। किन्तु हैवल का कहना है कि उसके दृष्टिकोण का निर्माण उसकी बहादुर राजपूत माँ, राणा मलभट्टी की पुत्री बीबी नैला ने किया था। जिसने अपनी मर्जी से गयासुद्दीन तुगलक के छोटे भाई रज्जब—जो उस समय चढ़ाई का सरदार था—से विवाह कर लिया। यह विवाह उसने अपने आदमियों को तुगलक के कप्तान के अत्याचारों से बचाने के लिए किया था। तुगलक कप्तान ने यह माँग रखी थी कि यदि वह उसके भाई से विवाह करना अस्वीकार करेगी तो वह राजपूतों को इसका दंड देगा।

फतेहाते फीरोज़ शाही में (देखिए इलियट और डौसन, खंड ३, पृष्ठ ३७४-३८८) में, जिसमें उसके जीवन के संस्मरण लिखे हुए हैं, इसलाम के हितार्थ उसने जो कार्य किये हैं, उनका उसी के शब्दों में वर्णन मिलता है। ये संस्मरण उसकी मानवीय भावनाओं से ओत प्रोत हैं, यद्यपि उन्हें धर्मांधता से सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें यंत्रणा-विधान को रद करने, कितने ही अनुचित करों को हटाने, इमारतों को बनाने, मुसलमान मुनकिर और हिन्दुओं का दमन करने का वर्णन मिलता है।

तत्सम्बंधी योग्यता की न्यूनता का परिचायक है। * १३७१-७२ में ठट्टा के विरुद्ध जो उसने सैनिक कार्यवाही की, वह भी उसके सैनिक कौशल की न्यूनता को प्रकट करती है।

बंगाल के विरुद्ध अपने आक्रमणों में वह इलियास शाह का, जिसने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था, दमन नहीं कर सका। यद्यपि उसने तथाकथित रूप में इलियास शाह (शम्सुद्दीन) के विरुद्ध विजय प्राप्त कर ली, फिर भी सूबे पर अधिकार करने के बजाय वह दिल्ली वापिस लौट आया। उसने ठीक उस समय युद्ध से हाथ खींच लिया जब कि शत्रु, इकदल के दुर्ग में, आत्मसमर्पण करने की स्थिति में आगया था। इस प्रकार, हाथ में आने पर भी, वह बंगाल पर दिल्ली के प्रभुत्व को बनाये नहीं रख सका।

दिल्ली लौट आने के बाद उसने जाजनगर (उड़ीसा) के विरुद्ध चढ़ाई की और यहाँ के भागते हुए ब्राह्मण-राजा का उसने पीछा किया तथा जगन्नाथ के मन्दिर को लूट लिया। बंगाल के विरुद्ध दूसरे आक्रमण के शीघ्र बाद ही उसने, १३६०-६१ में, नगरकोट पर धावा किया जिसके फलस्वरूप वह केवल वहाँ के राजा का आत्म-समर्पण प्राप्त कर सका। ज्वालामुखी के प्रसिद्ध मन्दिर को भी उसने लूटा। ठट्टा पर उसने वहाँ के राजा को दंडित करने के लिए आक्रमण किया था। किन्तु वहाँ से भी उसे, सेना पर्याप्त न होने के कारण, गुजरात लौट आना पड़ा। रास्ते में उसके पथ-प्रदर्शकों ने उसे गलती से रण कुच्छ में पहुँचा दिया। यहाँ, पूरे ६ माह तक, उसकी सेना को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। इन ६ महीनों में उसकी कोई खैर-खबर तक दिल्ली न पहुँच सकी और वहाँ पर, दिल्ली में, वज़ीर के लिए शान्ति कायम रखना कठिन हो गया। ६ मास बाद गुजरात पहुँच कर उसने अपनी सेना का पुनर्संगठन किया और अधिक सैनिकों के साथ फिर ठट्टा पर चढ़ाई कर वहाँ के जाम साहब को अपने अधिकार में कर लिया।

---

* अधिक विवरण के लिए देखिए एन० के० भट्टशाली कृत "कायन्स एण्ड कानोलाजी आफ दि इन्डीपेंडेन्ट सुलतान्स आफ बंगाल (१६२२) पृष्ठ ४५-५१। दोनों में से एक धावे में भी फीरोज़ का पलड़ा भारी नहीं रह सका था।

सुलतान ने दक्षिण को स्वतंत्र ही रहने दिया; यद्यपि गद्दी पर बैठने के शीघ्र बाद ही उसने दक्षिण पर चढ़ाई करने की योजना बनाई थी। सल्तनत का विस्तार अब विंध्य के उत्तर में स्थित प्रदेश तक सीमित था। बंगाल दिल्ली के प्रभाव से बाहर हो ही गया था।

नम्र शासन-प्रणाली

फीरोज़शाह की शासन-व्यवस्था को, कुल मिला कर, नम्र कहा जा सकता है। किसानों पर दबाव नहीं था। कर की समूची प्रणाली को नये सिरे से व्यवस्थित किया गया था और अवांछनीय तथा गैरकानूनी नज़रानों को बंद कर दिया गया था। सिंचाई की सुविधाओं और हल्के करों के फलस्वरूप कृषि की उन्नति हुई और, शम्सी सिराज आफ़िफ़ के अनुसार, किसानों के घर धन-धान्य से पूर्ण हो गए। उनकी सम्पत्ति में, घोड़े और मवेशियों में, वृद्धि हुई। प्रत्येक घर में काफी सोना और चाँदी जमा हो गया। कोई स्त्री ऐसी न थी जिसके पास आभूषण न हों और कोई घर ऐसा न था जिसे पलंग और गद्दों से खाली कहा जा सके। श्री की और सुख-सुविधाओं की कहीं कोई कमी देखने में नहीं आती थी।*

शम्सी रियाज ने फीरोज़शाह के शासन-काल की पहले के शासन-कालों से तुलना की है। अलाउद्दीन के काल से अब बाज़ार-हाट सस्ते थे। जीवनोपयोगी सामग्रियों की बाज़ार में कोई कमी नहीं दिखाई देती थी। भूमि-कर में इस बात की गुंजायश रखी गई थी कि काश्तकार के गुज़ारे के योग्य काफी अन्न बच रहे। कृषि का क्षेत्र भी पहले से अधिक बढ़ गया था। दिल्ली के निकट ग्रामोद्यानों की संख्या काफी थी। सूबेदारों और शासकों को जो नज़राने देने पड़ते थे, वे बंद कर दिये गए थे। चुंगी-कर हटा दिए गए थे जिससे बाज़ार-भाव सस्ते हुए और व्यापार फूला-फला।

देश की सम्पन्न अवस्था

कर की इस व्यवस्था के फलस्वरूप सुलतान के पास प्रति वर्ष अतिरिक्त धन बच रहता था जिसे वह सार्वजनिक मदों और

*ईलियट और डौसन खंड ३, पृष्ट ३६०। सुलतान ने एक सिंचाई-कर लगाया था जो कुल पैदावार का एक दसवाँ भाग होता था।

खैराती कामों में खर्च करता था। उसने अनेक नहरें, बाग, मकतब और अस्पताल बनवाए। उसने बागों की मरम्मत कराई, बहुत से पेड़ लगवाए। जिनसे काफी आमदनी होने लगी। परती धरती को उसने कृषि योग्य बनवाया और इस प्रकार सल्तनत की आमदनी में वृद्धि की, बावजूद इसके कि सल्तनत तक पहले से संकुचित हो गया था।*

मुद्रा नीति

कहा जाता है कि सुलतान ने मुद्रा-प्रणाली में भी सुधार किया था। सम्भवतः उसने सोने और चाँदी की मुद्राओं को अधिक मात्रा में नियमित रूप से जारी किया। उसने चाँदी और ताम्बा मिले आधा तथा चौथाई जीतल के सिक्के भी जारी किए। निर्धन वर्ग के लोगों में ये सिक्के बहुत प्रचलित हुए और बाद में भी, दीर्घ काल तक, चलते रहे।

शाही घराने की व्यवस्था को भी उसने पुनर्संगठित किया। हर विभाग के अलग दफ्तर और अलग हिसाब रखने की पद्धति उसने प्रचलित की। सल्तनत की ओर से भारी संख्या में कारीगरों को रखा जाता था जो निरीक्षकों और पर्यवेक्षकों के मातहत काम करते थे। देश के विभिन्न भागों से दास भी भारी संख्या में लाये जाते थे। उनकी समुचित व्यवस्था के लिए अलग से एक दफ्तर स्थापित था। इन दासों को कारीगरी सिखाई जाती थी। इनमें से कुछ साहित्य और धर्म का भी अध्ययन करते थे। सल्तनत का काफी धन इन पर खर्च होता था। अन्त में ये बोझ और सल्तनत के ह्रास का कारण बन गए।

उसकी उदारता

सुलतान के विद्या-प्रेम का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। वह विद्वानों को पेन्शन और जागीर देता था। कितने ही मकतब और मदरसे उसने खोले थे जिनमें फीरोज़ाबाद के शाही मदरसे ने काफी

*शम्सी ने प्रसंगवश एक जगह लिखा है कि कर की आय ६०,८५०,००० टंक या ६०८५००० पौंड थी जिसमें केवल दोआब से कर रूप में ८०००,००० टंक मिलता था।

प्रसिद्धि प्राप्त की। वह इतिहास का प्रेमी था। उसी के शासन-काल में बरनी और शम्सी सिराज ने अपनी कृतियाँ लिखी थीं। सुदूर मुस्लिम देशों से उसने धर्माधिकारी विद्वानों को बुलवाया। कुछ संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद करवाया। गरीबों की सहायता के लिए उसने काफी बड़ा कोष जमा कर रखा था। भारी संख्या में बेकारों को वह काम देता था और अपने ही खर्च से गरीब तथा भले लोगों की कन्याओं का विवाह करवाता था।

शासन के काले पहलू

उसके शासन-सम्बंधी कुछ सुधारों की उपयोगिता संदिग्ध है। जिस जागीर-प्रथा को अलाउद्दीन ने समाप्त कर दिया था, उसे उसने फिर से जीवन-दान दिया।* इस प्रकार उसने सीधे कर-वसूली के बजाय जागीरदारों के द्वारा कर-वसूली की दोष-पूर्ण प्रथा को पुनः स्थापित किया। दासों की बड़ी बड़ी संस्थाएँ स्थापित कर दी गईं। ये दास बहुत ख़तरनाक सिद्ध हुए विशेष कर वे जो महल पर पहरा देते थे। उसकी दास-नीति की प्रशंसा सम्सी सिराज जैसा उसका प्रेमी इतिहासलेखक भी नहीं करता। वह हिन्दुओं के प्रति असहनशील था। सार्वजनिक मूर्तिपूजा, व्यक्तियों के चित्र बनाने (मुसव्वरी) पर उसने प्रतिबंध लगा दिया। ब्राह्मण अब तक जज़िया से मुक्त थे, किन्तु उसने उन्हें भी न छोड़ा। उसकी इन नीतियों का काफी विरोध हुआ, किन्तु उसने विरोध की कोई चिन्ता नहीं की। मन्दिरों को (जैसे जगन्नाथ का मन्दिर) उसने नष्ट किया और धर्म-परिवर्तन के कार्यों में सक्रिय योग दिया।† मुनकिर

*माफीदारों ने माफी में मिली जागीरों का भी उप-विभाजन कर लिया था। सैनिकों तक को धरती आदि दी जाती थी। बड़े जागीरदारों को जिले के जिले दे दिए जाते थे। शक्तिशाली सामन्ती अमीरों ने सुलतान की मृत्यु के बाद सल्तनत को छिन्न-भिन्न करने में कोई कसर न उठा रखी (इलियट और डासन, खंड ३ पृष्ठ २८६, ३२८, ३४०)।

†उसके अपने संस्मरणों में उसकी धर्मांधता और असहनशीलता के काफी उदाहरण मिल जाते हैं (इलियट और डासन, खंड ३, पृष्ठ ३८०-२) उसे इस बात का भी गर्व था कि एक खलीफा ने उसे मान्यता प्रदान कर दी।

मुसलमानों, जैसे शिया आदि, के प्रति भी वह उतना ही कठोर था। उसके नेतृत्व में शासन-व्यवस्था ने कट्टर धार्मिक रूप धारण कर लिया और "सुलतान की असहनशीलता उसके शासन का अंग बन गई।"

शासन का अन्तिम काल

जब फीरोज़ के शासन का अन्त हुआ तब राजनैतिक आकाश में धूप भी निकली हुई थी और घटाएँ भी छाई थीं—दोनों का मिश्रण था। सल्तनत संकुचित हो गई थी। किन्तु उसके साधन अधिक विकसित रूप में थे। मानवता और सत्कृत्यों के लिए उसका नाम था, किन्तु हिन्दुओं के प्रति असहन-शीलता भी थी; सुधारों के लिए लगन थी, किन्तु दासों और माफी दारों को खड़ा करके सल्तनत के ह्रास की ज़मीन तैयार की जा रही थी। दास-वंश के नासिरउद्दीन से वह कहीं अच्छा शासक था. वह सक्रिय रूप में सहृदय था, यद्यपि विवेकहीन भी था। उसकी आँखों के नीचे भ्रष्टाचार पनप रहा था, दुष्ट मनमानी कर रहे थे और वह कुछ नहीं कर पाता था—कुछ नहीं करता था। फलतः उसके सत् कृत्यों का प्रभाव टिकाऊ नहीं था। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि उसकी यह सहृदयता भी उसके दम्भ का ही परिणाम थी।

सुल्तान का अन्तिम काल

सुल्तान के अन्तिम दिन विपत्तियों से घिरे हुए थे। उसके बड़े लड़के की १३७४ में मृत्यु हो गई। दूसरे लड़के शाहज़ादा मुहम्मद और वज़ीर खाम-ए-जहाँ के बीच संघर्ष उत्पन्न हो गया। संघर्ष का कारण वज़ीर द्वारा सभी अधिकारों का अपने हाथ में कर लिया जाना था। अन्त में वज़ीर अपमानित होकर मारा गया और फीरोज़ ने अपने पुत्र को अपना स्थानापन्न बना कर स्वयं विश्राम ग्रहण कर घरेलू जीवन बिताना आरम्भ कर दिया। कुछ समय बाद शाहज़ादा को दासों ने निकाल बाहर किया और उसकी जगह पर सुल्तान के एक पौत्र गयासुद्दीन को गद्दी पर बैठाया। इसके कुछ ही काल बाद काफी वृद्धावस्था में, अक्टूबर १३३८ में, सुलतान की मृत्यु हो गई। पाँच मास के अल्प और बुरे शासन के बाद नया सुलतान

भी गद्दी से उतार कर मार डाला गया और उसके उत्तराधिकारी अबू बकर को भी, कुछ मास तक उपद्रवों से पूर्ण शासन का उपयोग करने के बाद, दिल्ली से भागने के लिए बाध्य होना पड़ा।

फीरोज़ के शासन की अच्छी बातें उसके मानवीय प्रयत्न, शासन-सम्बंधी सुधार तथा अन्य लोकोपयोगी कार्य सल्तनत को विच्छिन्न करने वाली प्रवृत्तियों को नहीं रोक सकते थे। "फीरोज़ के सुधारों में टिकाऊपन नहीं था। मुस्लिम शासन-नीति को जमाने में और हिन्दुओं का—जो उसकी धार्मिक असहनशीलता के कारण कटु हो गए थे—विश्वास प्राप्त करने में वे सफल नहीं हो सके।" फीरोज़ में न सैनिक योग्यता थी; न शासन-सम्बंधी मामलों में उसकी अधिक पैठ ही थी; किन्तु वह अपने वज़ीरों का चुनाव देख-भाल कर करता था। फलतः अपने शासन का कुछ रूप सुधारने में वह सफल हुआ और अपनी प्रजा का स्नेह उसे प्राप्त हुआ। उसकी विकेन्द्रीकरण की प्रणाली, उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथ पड़ कर, घातक सिद्ध हुई।*

नासिरउद्दीन का शासन

कुछ कठिनाई के बाद फीरोज़ का पुत्र और सहयोगी शासक मुहम्मद, जिसे दासों ने अपदस्थ कर बहिष्कृत कर दिया था, नासिर उद्दीन नाम से सिंहासन पर बैठने में सफल हुआ और, बावजूद संघर्ष के, १३६४ ईसवी में अपनी मृत्यु तक उसने सिंहासन पर अपना अधिकार बनाए रखा। फीरोज़शाह के पुराने दासों को उसने उसकी शक्ति और सुविधाओं से वंचित कर दिया। मेवात के हिन्दुओं ने और राय सरवर नामक एक हिन्दू सरदार ने उसका साथ दिया—यह इस बात का सूचक है कि बाहर से आकर बसने वालों के मुकाबले में अब हिन्दुओं और देशी मुसलमानों का महत्व बढ़ता जा रहा था। उपद्रव और अशान्ति इस काल की विशेषता थी—गुजरात में विद्रोह हुआ। यमुना के उस पार रहने वाले राजपूत राठौरों ने भी सिर उठाया। शाही सत्ता की कमजोरी हर कहीं देखी और अनुभव की जा सकती थी।

---

* दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ १८६।

मुहम्मद तुगलक द्वितीय

नासिरउद्दीन के बाद उसका पुत्र हुमायूँ सिंहासन पर बैठा और कुछ ही सप्ताह बाद उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद उसका छोटा भाई, जो नाबालिग था, मुहम्मद तुगलक द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह दुर्बल और अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। वह अपने वंश का अन्तिम शासक हुआ। स्वयं राजधानी में ही अनेक दल हो गए थे। हिन्दू सरदार और मुसलमान अधिकारी स्पष्ट रूप से सुलतान की सत्ता की अवज्ञा करते थे। कन्नौज से बिहार तक हर क्षेत्र में अव्यवस्था का राज्य था।

गुजरात, मालवा, जौनपुर आदि की स्वतंत्रता

गुजरात के शासक मुजफ्फरखाँ ने १३९६ में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इस प्रकार दिलावर खाँ गोरी के नेतृत्व में मालवा ने (१४०१) और छोटे से सूबे खानदेश ने—नासिर खाँ वहाँ का सूबेदार था—१३९९ में स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लिया। सुलतान के वजीर ख्वाजा जहान, मलिक सरवर भी शाह का साथ छोड़ कर अलग हो गए। ख्वाजा जहान ने जौनपुर में अपनी स्वतंत्र शासन-व्यवस्था स्थापित करली। वहाँ से वह और उसके उत्तराधिकारी, कुछ काल तक, बिहार, अवध और जौनपुर पर शासन करने लगे। उन्होंने सुलतान शर्की की उपाधि धारण की (१३९४)। उत्तर में खोखर लोगों ने विद्रोह किया। सुलतान और नसरत खाँ के बीच गृहयुद्ध से दिल्ली पूरे दो वर्षों तक छिन्न-भिन्न अवस्था में रही। नसरत खाँ का साथ बहुत से अमीर दे रहे थे। उसका कहना था कि सिंहासन का जायज दावेदार वही था। फीरोज़ाबाद को अड्डा बना कर उसने सुलतान से संघर्ष किया। उपद्रवी सूबेदार इस संघर्ष से अलग रहे। तीन वर्ष की सुदीर्घ अव्यवस्था के बाद, १३९६ में, एक शक्तिशाली दल के नेता इकबाल खाँ ने, जो वजीर बन गया था, निर्णयात्मक विजय प्राप्त की और महमूद को, कठपुतली की तरह, सिंहासन पर बैठा दिया (१३९८ ईसवी)।

तैमूर का आक्रमण

आन्तरिक संकट का अभी अन्त हुआ ही था कि मंगोल-विजेता तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत की नींव हिला दी। तैमूर

भयानकता में, दूसरा चंगेज़ था। * भारत की कमजोरी से वह परिचित था। अग्रिम दस्ते के रूप में, अपने पौत्र पीर मुहम्मद के नेतृत्व में, उसने सेना भेजी। पीर मुहम्मद ने उच्छ को घेर लिया और ६ मास के घेरे के पश्चात्, १३९७-९८ में, मुलतान पर उसका अधिकार हो गया।

इसी बीच एक बड़ी सेना के साथ, स्वयं तैमूर ने चढ़ाई कर दी। हिन्दू कुश को पार कर काबुल के मार्ग से उसने सिन्धु तक प्रवेश किया। सिन्धु को पार कर, झेलम के किनारे किनारे, वह पंजाब में घुस गया। खोखरों और पंजाब के शासक मुबारक खाँ को परास्त करने के बाद—जिसने विरोध का दुर्बल प्रयत्न किया था—तैमूर ने व्यास को पार किया और भटनीर, सरसुती तथा अन्य स्थानों पर अधिकार करता हुआ, पानीपत होकर, निर्विरोध दिल्ली पहुँचा। उससे लोहा लेने के लिए सुलतान और उसका वजीर इकबाल खाँ सेना के साथ, नगर से बाहर निकल आए। किन्तु तैमूर के घुड़सवारों के सम्मुख भारतीय सेना न टिक सकी और तितर-बितर

---

* तैमूर या तैमूर लंग जिसका भ्रष्ट रूप तमरलेन भी प्रचलित है चंगेज़ खाँ का सम्बंधी था। १३८० में उसने फारस में आक्रमणों का एक दीर्घ सिलसिला शुरू किया और खुरासान, अफगानिस्तान, सीस्तान तथा फारस के अन्य कितने ही भागों को रौंद डाला। इसके बाद बगदाद और मेसोपोटामिया पर विजय प्राप्त की और तातार प्रदेश के महान खान को परास्त कर दिया। १३९८ में उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और इसके अगले वर्ष उसने कश्मीर और दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। १४०१ में उसने एशिया माइनर पर आक्रमण किया और उस्मानली तुर्कों को पराजित किया। फिर सीरिया को अपने वश में किया और मिश्र ने उसके सम्मुख गरदन झुका दी। १४०५ में उसकी मृत्यु हो गई जब कि वह चीन पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। समरकन्द उसकी राजधानी थी। वहीं से उसने अपने आतंकपूर्ण शासन का संचालन किया। उसका साम्राज्य ल[illegible]जी[illegible] रहा। वह ऐसा था कि उसे संभालना कठिन था। अतः वह शीघ्र छिन्न-भि[illegible] हो गया। भारत के महान मुगल उसी के उत्तराधिकारी थे (देखिए लेनपूल, मुहम्मडन डाइनेस्टीज, पृष्ठ २६५-८)। उसके व्यक्तित्व के लिए देखिए एल्फिन्स्टन, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ४१६—१७ जिसमें सुल्तान की तुलना चंगेज़ से की गई है।

रूप में उसे पीछे हटना पड़ा (१३९८)। भारतीय सेना के हाथी विजेता के हाथ लगे। मुहम्मद तुगलक भाग कर गुजरात चला गया। सुरक्षा का वचन लेकर दिल्ली ने आत्मसमर्पण कर दिया और तैमूर भारत का सम्राट घोषित कर दिया गया। इसके बाद, तैमूर की सेना, कई दिन तक नगर को लूटती और मारकाट करती रही।

दिल्ली में लूट-मार

पाँच दिनों तक तैमूर के सैनिकों ने दिल्ली को लूटा और उसके नागरिकों का कत्ल किया। दिल्ली के इतिहास में यह लूटमार अत्यन्त दुःखद स्थान रखती है। नगर की सुरक्षा का जो वचन तैमूर ने दिया था, उसे उसने तोड़ दिया, या फिर उसके सैनिकों के जंगलीपन और नियंत्रण से बाहर हो जाने का यह परिणाम था। कुछ विश्वास योग्य विद्वानों का कहना है कि इस उत्पात का प्रारम्भ सैनिकों ने किया था।*

जब लूटने के लिए कुछ नहीं बचा और लूटमार करते-करते सैनिक थक गए तो तैमूर ने उन्हें वापिस लौटने का आदेश दिया। लूट के भारी सामान और भारी संख्या में दासों के साथ, जिनमें कितने ही कुशल कारीगर और पत्थर तराश भी थे, तैमूर वापिस हुआ। मार्ग में उसने मेरठ के दुर्ग को तहस-नहस किया। हरिद्वार की घाटी को रौंद डाला और सिवालिक पहाड़ियों पर आक्रमण कर वहाँ के हिन्दू राय को परास्त किया। पहाड़ों की तलहटी में से होता वह जम्मू की ओर बढ़ा और वहाँ के राजा को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। काश्मीर के राजा का आत्म-समर्पण पाने और खोखरों के देश पर आक्रमण करने के बाद, सैयद खिज़र खाँ को लाहौर का तुगलक सूबेदार नियुक्त करके, तैमूर ने अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान किया। सैयद खिज़र खाँ बहुत ही योग्य, सक्षम और कुलीन आदमी था। तैमूर ने उसे अपना

---

* एल्फिन्स्टन, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पाँचवाँ संस्करण पृष्ठ ४१५, शरफ-उद्दीन का ज़फरनामा जो तैमूर की पक्षपातपूर्ण जीवनी है (इलियट, खंड ३) और मलफूज़ाते तैमूरी, विजेता के जीवनी रूपक संस्मरण, इलियट द्वारा अनुवादित (खंड ३, पृष्ठ ३८९)—इन सब का कहना है कि यह लूटमार तुर्की सैनिकों के उपद्रव और हिन्दुओं द्वारा उनके विरोध का नतीजा था।

भारत स्थित प्रतिनिधि नियुक्त किया और उसे लाहौर, मुलतान और दीपालपुर का शासन-भार सौंप दिया (मार्च, १३९९)। तैमूर ने, जैसा कि उसने दिल्ली को देखा था, रोचक वर्णन लिखा है। इस वर्णन से पता चलता है कि पृथ्वीराय के समय से दिल्ली कितनी अधिक विकसित हो गई थी।

लूट-मार के बाद

तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली को अराजकता, महामारी और अकाल ने ग्रस लिया। किसी भी पूर्व-विजेता ने, अपने एक आक्रमण द्वारा, भारत को इतनी क्षति कभी नहीं पहुँचाई थी। दिल्ली बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट और दो मास तक बिना किसी शासन-व्यवस्था के अराजकता का शिकार बनी रही। कोई भी जगह ऐसी नहीं बची थी जहाँ सामाजिक जीवन का आधार धूल में न मिल गया हो। सैनिकों के उत्पात हर जगह दिखाई देते थे। दिल्ली पर फिर से अधिकार करने के लिए वज़ीर इकबाल खाँ को उनसे संघर्ष करना पड़ा। नाममात्र के बादशाह महमूद तुगलक को भी, १४०१ में, समझा बुझा कर उसने दिल्ली बुला लिया। सुलतान अब पहले से भी अधिक उसके हाथ की कठपुतली हो गया। सार्वजनिक कार्यों में सुलतान का कोई दखल नहीं था। एक बार उसने जौनपुर के शरकीखाँ (इब्राहीम शाह जो १४०१ में गद्दी पर बैठा था) से मदद लेकर अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सका। इसके बाद वह जौनपुर राज्य में कन्नौज में जाकर बस गया और, अपनी सेना के एक भाग के साथ, वहीं रहने लगा। इकबाल खाँ ने उसे यहाँ से भी अपदस्थ करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह १४०५ में, मुलतान के निकट, एक युद्ध में सैयद खिज़र खाँ के हाथों मारा गया।

इकबाल खाँ की मृत्यु के बाद सुलतान दिल्ली की ओर रवाना हुआ। वहाँ अमीरों ने उसका साथ दिया। दरबार के एक अफगान अमीर दौलत खां ने, ईमानदारी के साथ, सुलतान का साथ दिया और वह वजीर बन गया। उसने दिल्ली की तेज़ गति से गिरती हुई स्थिति को संभालने के लिए अनेक साहसपूर्ण प्रयत्न किए। किन्तु स्थिति इतनी गिर गई थी और सुलतान इतना पंगु और अपने

सैनिकों में इतना बदनाम हो गया था कि कोई सुधार सम्भव न हो सका। १४१३ में सुलतान की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के साथ, फरिश्ता के शब्दों में, "दिल्ली की सल्तनत तुर्कों के हाथ से, दो शतियों से अधिक के शक्तिशाली शासनोपभोग के बाद, निकल गई।"

दौलत खाँ का अन्त

अमीरों ने दौलत खाँ लोदी को अपना नेता चुना था, किन्तु बादशाह के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। फलतः वह एक सैनिक शासन का अधिष्ठाता ही बना रहा। पन्द्रह महीनों तक सैनिक माफीदारों को उसने अपने अनुकूल करने के लिए कठिन प्रयत्न किया। रुहेलखंड के हिन्दू सरदारों को झुकाने में भी वह काफी व्यस्त रहा। इसी बीच तैमूर के प्रतिनिधि और लाहौर तथा मुलतान के शासक खिज़र खाँ ने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी और चार मास के घेरे के बाद उस पर अधिकार कर लिया। दौलत खाँ बन्दी बना लिया गया और खिज़र खाँ ने सैयदों के एक नये शाही वंश की नींव डाली।

सल्तनत के ह्रास का कारण

दिल्ली की सल्तनत के ह्रास और विच्छिन्नता के प्रमुख कारणों को तुगलकों की केन्द्रित प्रवृत्तियों में देखा जा सकता है। एक तो सल्तनत बहुत विस्तृत थी, दूसरे उसके विभिन्न भागों के बीच सम्पर्क के सहज और सुविधाजनक साधनों के न होने से विभिन्न सूबेदारों को स्वतंत्र रूप से खड़े होने का अवसर मिल गया। सेना और सूबों का भार ऐसे अमीरों के हाथ में सौंप दिया गया था जो विदेशी थे और सल्तनत के बिगड़ने-बनने में जिन्हें कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी—सुलतान के प्रति वफ़ादारी का निर्वाह करना भी वे आवश्यक नहीं समझते थे। फलतः मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में होनेवाली हलचलों ने सल्तनत की नींव हिला दी। उसके बाद फीरोज़ के नम्र शासन और उसके अ-सैनिक तथा अ-लड़ाकू व्यक्तित्व ने शाही प्रभाव और प्रतिष्ठा को कम करने में और भी मदद दी। अपनी सत्ता और अधिकार का

लोहा मनवाना सुलतान के लिए कठिन हो गया। फीरोज़ के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में यह बात और भी बढ़ी—शाही प्रभाव कम होता गया, यहाँ तक कि खुद शाह को गद्दी पर बैठाना अथवा उसे अपदस्थ कर देना साहसी सैनिकों के हाथ का खेल हो गया।

फीरोज़ के शासन के धार्मिक रूप ने—शरीयत के अनुसार वह शासन करता था—राज्य को अव्यवस्थित करने में और भी योग दिया। मुल्ला और मुफ्तियों के प्रभाव आगे चल कर, विनाशकारी सिद्ध हुए। जो शासक थे, वे ऐश और आरामपसंद हो गए, उनमें न सैनिक चातुर्य रहा न अनुशासन; न अपनी सीमाओं की बाहरी आक्रमणों से वे रक्षा कर सके। जागीरदारी की प्रथा को फिर से चला कर फीरोज़ ने उसके दुर्गुणों को सिर उठाने का अवसर दिया। मुगल अमीरों के उपद्रवों और बाद में दास रक्षकों की सैनिक कार्यवाहियों ने अराजकता में, आगे चल कर, और भी वृद्धि की। अन्तिम तुगलक सुलतानों की अकर्मण्यता और तैमूर के आक्रमणों की भीषणता ने ह्रास और विच्छिन्नता के इस क्रम को सम्पूर्ण कर दिया। हिन्दू और मुसलमानों में अभी तक कोई वास्तविक साहचर्य स्थापित नहीं हुआ था और वे दो विभिन्न खंडों की तरह रहते थे। राजनीतिक इमारत के निर्माण में, उसकी नींव डालने में, हिन्दू अभी तक अपने को तैयार नहीं कर सके थे। फलतः तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत के विनाश को पूर्ण कर दिया और उसके अवशेष को तैमूर के प्रतिनिधि-शासकों ने उदरस्थ कर लिया।

[२]

दिल्ली पर सैयद और लोदी शाहों का प्रभुत्व

अ—सैयद वंश १४१४-१४५१ ईसवी

दिल्ली पर खिज़र खाँ के आधिपत्य के बाद कितने ही वर्षों तक दिल्ली की सल्तनत जैसी कोई चीज़, यथार्थतः अथवा नाम मात्र को नहीं रही। खिज़र खाँ ने बादशाह की उपाधि तक नहीं धारण की और तैमूर लंग तथा उसके पुत्र के प्रतिनिधि के रूप में ही शासन करता रहा।* दिल्ली के साथ वह किसी अन्य बड़े भू-भाग पर भी

*फरिश्ता के कथनानुसार वह सैयद या नबी के वंशजों में से था। अपने

अधिकार न कर सका। कटेहर (रोहेल खंड), मेवात और बदायूँ के पड़ोसी प्रदेश विरोधी रूप धारण किये रहे। खिज़र के सामने सबसे पहला काम यह था कि वह अपनी स्थिति को दृढ़ बनाए और किसी न किसी प्रकार व्यवस्था को कायम करे। नये अधिकारियों को नियुक्त कर उसने नयी शासन-व्यवस्था का निर्माण किया। गरीब मुसलमानों की सहायता की ओर उसने विशेष रूप से ध्यान दिया। उनकी संख्या में, गत वर्षों के उपद्रवों के कारण, काफी वृद्धि हो गई थी। उसके वजीर ताजुलमुल्क ने कटेहर पर चढ़ाई की और दोआब तथा ग्वालियर के प्रदेशों में, सैनिक कार्य-वाही करके, व्यवस्था और शान्ति स्थापित की। "दिल्ली के शासन की कमजोरी स्थानिक ज़मींदारों और सरदारों के निरन्तर उत्पातों और विद्रोहों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।" वजीर और शासक दोनों के थका देने वाले जीवन का १४२१ में अन्त हो गया। वजीर स्वामी की भक्ति का एक आदर्श उदाहरण था और खिज़र ने एक सच्चे सैयद की तरह "अपने जीवन का निर्वाह किया।"*

मुबारक शाह—१४२१– ३४ ईसवी

उसके पुत्र मुबारक शाह (१४२१-३४) को भी अनेक विद्रोहों का दमन करना पड़ा, जैसे सिर हिन्द के तुर्क-बच्चों और उत्तरी सीमा के खोखरों की विद्रोही प्रवृत्तियों और उत्पातों का कोई अन्त

पिता के बाद उसने मुलतान की सूबेदारी ग्रहण की। तैमूर के सामने आत्म-समर्पण कर उसने बुद्धिमानी का परिचय दिया। इसी कारण तैमूर, लौटते समय, उसे ही लाहौर का शासक नियुक्त कर गया। तुगलकों के अन्त के बाद दिल्ली की तत्कालीन अव्यवस्थित दशा से लाभ उठा कर उसने चढ़ाई की और दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। अफगान और तुर्कों ने उसका साथ नहीं दिया। सैयदों के समूचे शासन-काल में, जन-सुरक्षा अथवा केन्द्रीय शासन की दृढ़ता की दृष्टि से, कोई विशेष भौतिक प्रगति या उन्नति नहीं हुई।

* ई० टामस ने दूसरा ही मत प्रकट किया है। उसने कहा है कि खिज़र खाँ ने अपने जीवन में कभी विशेष कर्मठता का परिचय नहीं दिया और उसका वजीर ताजुलमुल्क भी उन विभिन्न सरदारों को, जो दिल्ली की संकुचित सल्तनत को घेरे हुए थे, दबाने या समझाने में व्यस्त रहता था। क्रानीकल्स, पृष्ठ ३२७।

नहीं था और ये लाहौर तक के लिए खतरा बन गए थे। दोआब भी विद्रोहों का घर बन गया था। उसके और कटेहर तथा मेवात के विरुद्ध भी मुबारक को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। जौनपुर के शासक के एक आक्रमण को भी मुबारक ने निष्फल किया। घरेलू झगड़ों, जो सरवरुलमुल्क और उसके प्रतिद्वन्दी कमालुलमुल्क की महत्वाकांक्षाओं के संघर्ष से उत्पन्न हुए थे, का भी मुबारक शाह ने दमन किया। इन झगड़ों में सरवर की जीत हुई, किन्तु शाह की हत्या के लिए हत्यारे को उकसाने के मामले में वह बदनाम हो गया (१४३४ ईसवी)। उसने सुलतान की हत्या के षड्यंत्र में भाग लिया—उस सुलतान की हत्या में जो तत्कालीन लेखक के शब्दों में, "न्याय-प्रिय, उदार हृदय और अनेक गुणों से सम्पन्न था।" *

शाही की निरीह स्थिति

मुबारक शाह के शासन-काल में दिल्ली की सल्तनत पर जौनपुर और मालवा जैसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियों की शत्रुता से अधिक

---

* तारीखे मुबारक शाही के लेखक याहया बिन सरहिन्दी, समकालीन होने के कारण, सैयदों के शासन-सम्बन्धी हमारी जानकारी का प्रमुख स्रोत है। फरिश्ता ऐसे बाद के लेखकों ने भी उससे बहुत कुछ लिया है। वह योग्य और समर्थ लेखक था। उसने अपने आश्रयदाता मुबारक शाह और उसके पूर्वाधिकारी शाह के शासन-काल का वर्णन किया है। देखिए टामस, क्रानीकल्स, पृष्ठ ३३० और इलियट और डौसन, खंड ४, पृष्ठ ६; के० के० बसुकृत तारीखे मुबारक-शाही, अनुवादित और गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, खंड ६३ में प्रकाशित भी देखिए।

मिनहाजुस्सिराज ने अपनी तबकाते नासिरी में दिल्ली की सल्तनत के इतिहास का १२५९ तक वर्णन किया है। ज़िया बरनी इस इतिहास को १३५६ ईसवी तक ले आया है। शम्सीसिराज अफ़ीफ ने फीरोज़ तुगलक के समूचे शासन काल (१३५१-८८) को शब्द बद्ध किया है, यद्यपि शासन के परवर्ती काल का वर्णन अत्यल्प हुआ है। इसके बाद तारीखे मुबारक शाही का नम्बर आता है जिसमें तीसरे सैयद शाह (१४३४) के शासनाधिकार ग्रहण करने तक का इतिहास वर्णित है। तैमूर के आक्रमण के बाद की अव्यवस्था और अराजकता के वर्णन के लिए सभी परवर्ती लेखक तारीखे मुबारक शाही के ऋणी हैं।

कटेहर के छोटे ज़मीदारों, दोआब के माफीदारों और पंजाब के खोखरों तथा दूसरे फिरकों के उत्पातों का प्रभाव पड़ा। तैमूर के आक्रमण के बाद सुलतान की प्रतिष्ठा और प्रभाव, राजधानी के निकटवर्ती प्रदेशों तक में, पूरी तरह से समाप्त हो गया था।

मुबारक के बाद उसके गोद लिए हुए पुत्र मुहम्मद को विश्वास घाती वज़ीर सरवर ने गद्दी पर बैठाया। सरवर शासन की बाग-डोर पूर्णतया अपने हाथ में करने में लग गया। परिणामतः जो संकट प्रस्तुत हुआ, उसमें सरवर मारा गया और उसके प्रतिद्वन्दी कमालुल्मुल्क की जीत हुई। उसने शाह के प्रति अपनी वफादरी का भी ढोंग रचा। शाह शासन में कुछ जान डालना चाहता था। किन्तु इसमें सफल न हो सका और शीघ्र ही कामुकता और ऐश की जिन्दगी में डूब गया। फलतः देश में विद्रोह और उपद्रवों ने फिर सिर उठाना शुरू कर दिया।

जौनपुर के शक्तिशाली शासक ने दिल्ली के कितने ही ज़िलों को अपने राज्य में मिला लिया। मालवा का महमूद खिलजी—जिसने हाल ही में वहाँ की गद्दी पर अधिकार किया था और जो योग्य तथा महत्वाकांक्षी था और जिसने मेवाड़ के शक्तिशाली महाराणा कुम्भ तक से लोहा लिया था, इतना साहसी निकला कि दिल्ली पर ही चढ़ाई कर दी। लाहौर के शासक बहलोल लोदी ने अगर साहस के साथ सैयद सुलतान का साथ न दिया होता तो सुलतान आतंकित हो राजधानी से भाग जाता।

सिरहिन्द बहलोल लोदी के आधिपत्य में था और इधर वह दिल्ली के मामलों में भी दिलचस्पी लेने लगा था। उसने आक्रमणों का विरोध करने का निश्चय कर लिया। मालवा की ओर से आक्रमण का संकट जितनी तीव्र गति से उत्पन्न हुआ था, उतनी ही तीव्र गति से विलीन भी हो गया। लेकिन बहलोल लोदी, जो अब पंजाब का वस्तुतः मालिक बना हुआ था और जो खानखाना की उपाधि से विभूषित था, स्वयं सुलतान के विरुद्ध हो गया और दिल्ली को घेर लिया। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली और अन्त में, उसे पीछे हट जाना पड़ा। इसके बाद, बहलोल लोदी का प्रभाव इतना बढ़ गया कि उसकी विजय और सैयदशाही के पराभव में

केवल समय का सवाल शेष रह गया था। १४४५ में मुहम्मद की मृत्यु हो गई और उसके बाद, सैयद वंश का अन्तिम प्रतिनिधि, अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा। किन्तु वह अपने पूर्वाधिकारी से भी दुर्बल था।

अलाउद्दीन—१४४५—५१ ईसवी

बहलोल लोदी ने नये शाह की सत्ता को स्वीकार नहीं किया और दिल्ली पर १४४७ में फिर चढ़ाई करदी, यद्यपि सफलता उसे इस बार भी नहीं मिली। इसके बाद शीघ्र ही सुलतान ने, सुरक्षा की दृष्टि से, बदायूं को अपनी राजधानी बना लिया। उसने अपने वज़ीर हमीद खाँ को, जिसने दिल्ली पर अधिकार करने में बहलोल का साथ देने का प्रयत्न किया था, अलग कर दिया। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद बहलोल ने सुलतान की उपाधि धारण कर ली और सैयद शाह ने, बदायूं के जिले को छोड़ कर, शेष सल्तनत पर से अपना प्रभुत्व त्याग दिया। इस प्रकार सैयदों के शाही वंश का अवसान और लोदियों के अफगान वंश का प्रारम्भ हुआ।

सैयद वंश के अवसान के समय उनका शासन केवल दिल्ली और आस-पास के गाँवों तक सीमित हो गया था। मुलतान, सम्भल, मेवात और ग्वालियर आदि स्वतंत्र सरदारों के शासनाधीन हो गए थे। इनमें से कितने ही बहलोल के, जो अब दिल्ली के सिंहासन का मालिक था, तरफदार हो गए थे। इस प्रकार बहलोल अन्तिम सैयद सुलतान का मनोनीत उत्तराधिकारी ही नहीं, वरन् विजयी सरदारों—अमीरों—की ढाल भी बन गया था।*

---

*छः या सात बड़े-बड़े अफगान अमीरों के एक गुट्ट ने बहलोल को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था। उस समय जब कि अमीरों का यह गुट्ट या संघ कायम हुआ, दिल्ली की सल्तनत वस्तुत: समाप्त हो गई थी—अनेक राज्यों और ठिकानों में बंट कर वह छिन्न-भिन्न हो गई थी। पहले की विस्तृत सल्तनत के नाम पर अब केवल दिल्ली और उसके चारों ओर का छोटा-सा इलाका शेष रह गया था जो अन्तिम सैयद शाह अलाउद्दीन के, नाम-मात्र को, शासनाधीन था। मुलतान, जौनपुर, बंगाल और मालवा आदि जो बड़े सूबे थे, वे सब स्वतंत्र हो गए थे और प्रत्येक सूबे का अपना शासक था। दिल्ली के आस-पास के सूबों को, बहुत ही उपयुक्त 'विशेषण मुल्क-ए-तवायफ'—कबीलों का

(ब) लोदी वंश—१४५१-१५२६ ईसवी

बहलोल लोदी का शासन, उसके दुर्बल पूर्वजों के अनुपात में, बहुत तेज़ और ज़ोरदार था,—वे जितने दुर्बल और कमज़ोर थे, बहलोल लोदी उतना ही तेज़ और शक्तिशाली था। सिंहासन पर बैठने से पूर्व भी वह एक शक्तिशाली शासक था। पंजाब का अधिकांश उसके अधिकार और आधिपत्य में था। अपने अड़तीस वर्षों के शासन में उसने उल्लेखनीय साहस और तत्परता का परिचय दिया। स्थानिक सरदारों पर अंकुश रखने में उसने सफलता प्राप्त की और जौनपुर के राजाओं से उसका दीर्घ तथा कटु संघर्ष चलता रहा। अन्त में उसने जौनपुर को भी अपनी सल्तनत में मिलाने में सफलता प्राप्त की।

उसके शासन-काल में दिल्ली की प्रतिष्ठा, कुछ अंश तक फिर से स्थापित हो गई। मेवाड़ के नेतृत्व में इसलामी राज्य के विरुद्ध हिन्दू-राजपूतों के संघर्ष को भी उसने, बहुत कुछ, अपने बस में कर लिया। वह सदाचारी व्यक्ति था और सादा जीवन व्यतीत करता था।* ग़रीबों के प्रति वह दयावान था और कड़ाई के साथ न्याय क पालन करता तथा कराता था। किन्तु उसे संघर्षों में इस हद तक फँसे रहना पड़ा कि वह अपनी शासन-व्यवस्था का पुनर्संगठन न कर सका।

लोदी शासन की विशेषता

अफगानों की तरह लोदी जाति के लोग भी जनतंत्रीय भावनाओं से ओत प्रोत थे। बहलोल अपने को, अपने कबीले के अन्य सरदारों

राज्य—कहा जाता था—महरौली और मेवात...सम्भल...काल जलेश्वर... रापड़ी, काम्पिल और पटियाली। खुद बयाना बहलोल के अधिकार में लाहौर, दीपालपुर, सिरहिन्द और दक्षिण में सुदूर पानीपत तक के सूबे थे। देखिए एर्स्किन—हिस्ट्री आफ इंडिया अन्डर बाबर एन्ड हुमायूँ (१८५४), खण्ड १, पृष्ठ ४०५ और दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ २२७।

*उसके बारे में प्रसिद्ध है कि वह शान-शौकत और दिखावे की चिन्ता नहीं करता था। वह केवल इतना ही चाहता था कि लोग उसे शाह मानें—और बस। इसके लिए वह शाही प्रदर्शनों के फेर में नहीं पड़ता था।

की तरह, मानता था और सबसे बराबरी और समता के साथ मिलता था। उसने अपने चारों ओर कोई दीवारें नहीं खड़ी की थीं। उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व ही उसके लिए पर्याप्त था। यदि वह शक्तिशाली और दृढ़-निश्चयी नहीं होता तो अपने को खड़ा न रख पाता। बहलोल ने जनतंत्रीय व्यवस्था के गुणों को खोल कर रखा और सभी सरदारों को, उनके साथ समानता का व्यवहार कर, एक सूत्र में बाँध रखा। लेकिन उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम् ने, अपने कटु और उद्धत स्वभाव के कारण, अफगान अमीरों से अपने को अलग कर लिया। फलस्वरूप शासन का समूचा ढांचा पूर्णतया ढह गया—यहाँ तक कि यह अमीरों की इच्छा की बात रह गई कि वह चाहे जिसे सिंहासन पर बैठा दें। इसीलिए लोदी-शासन, अफगान-शासन का पहला दौर माना जाता है। दूसरा दौर शेर शाह के सूरी वंश से शुरू होता है।

जौनपुर पर आधिपत्य; १४७९ ईसवी

जौनपुर के महमूद शरकी के आक्रमण को, जो दिल्ली तक चढ़ आया था, बहलोल ने पीछे हटने के लिए बाध्य कर दिया। बहलोल की इस सफलता ने माफीदारों पर उसके नियंत्रण को और दृढ़ बना दिया, राजपूतों पर भी इसका दवाव पड़ा और मुलतान तथा सिंध पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। जौनपुर से उसे अनेक बार, फिर-फिर कर, युद्ध करना पड़ा। अन्त में, जौनपुर के नये शासक हुसेनशाह (१४२८-१४७६ ईसवी) ने, दीर्घ संघर्ष के बाद, आत्म-समर्पण कर दिया और बहलोल ने, १४७६ में, जौनपुर पर आधिपत्य कर उसका शासन अफगान अमीरों के एक गुट्ट को सौंप दिया। अपदस्थ शासक हुसेन ने जौनपुर पर फिर से अधिकार करने का एक बार प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिल सकी। इसके बाद बहलोल ने जौनपुर का शासन उसके पुत्र बारबक को सौंप दिया और अपने प्रभुत्व को कालपी, धौलपुर और ग्वालियर तक विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की।

सुलतान सिकन्दर (१४८९-१५१७ ईसवी)

बहलोल के बाद उसका पुत्र, निज़ाम खाँ, सिंहासन पर बैठा। बारबकशाह ने भी सिंहासन पर अपना दावा किया था,

किन्तु अमीरों और सरदारों ने निज़ाम खाँ का साथ दिया। निज़ाम खाँ ने सुलतान सिकन्दर की उपाधि धारण की। सिंहासन पर बैठते ही तेज़ी के साथ उसने विद्रोही सामन्तों का दमन किया, जौनपुर में अपने भाई के विरोध को शान्त किया, हुसेन शरकी को, जिसने अपने राज्य को फिर से पाने के लिए अन्तिम पाँसा फेंका था, खदेड़ दिया और दिल्ली के प्रभुत्व को बनारस तथा बिहार तक विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की (१४६५ ईसवी)। बंगाल के शासक से संधि कर उसने अपनी पूर्वी सीमा को खतरों से सुरक्षित कर लिया। किन्तु अफगान सामन्ती अमीरों के उत्पातों का दमन करना उस जैसे शक्तिशाली सुलतान के लिए भी अत्यधिक भारी सिद्ध हुआ। आगरा को उसने अपना निवास-स्थान बनाया जिससे आसपास के उत्पाती सरदारों पर अच्छी तरह अंकुश रख सके (१५०४ ईसवी), विशेषरूप से इटावा और ग्वालियर के सामन्ती अमीरों से वह अधिक चिन्तित था। इस प्रकार, दिल्ली के मुकाबले में, आगरा भी हिन्दुस्तान का प्रमुख नगर—राजधानी—बन गया और पहली बार, आगरा ने, राजनीतिक महत्व का स्थान प्राप्त किया। अब तक इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था और यह बयाना के दुर्ग पर निर्भर था। सिकन्दर के शासन का शेष भाग विद्रोहियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने तथा नरघर और चन्देरी के हिन्दुओं का दमन करने में बीता। १५१७ में उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र, इब्राहीम लोदी, सिंहासन पर बैठा।

उसका दृढ़ शासन

सिकन्दर ने जो काम किये, उनसे उसके न्यायप्रिय शासक होने का परिचय मिलता है। गरीबों के प्रति वह उदार था और अमीरों के प्रति कड़ाई से व्यवहार करता था। सारी शक्ति उसने अपने हाथ में केन्द्रित कर ली थी। कृषि और उद्योगों को उसने प्रोत्साहित किया, भ्रष्टाचार और सार्वजनिक धन के दुरुपयोग पर उसने कड़ा नियंत्रण रखा। हिन्दुओं के वह अत्यधिक विरुद्ध था। हिन्दुओं के मन्दिरों के विनाशकार्य में वह निरन्तर लगा रहा और मथुरा के सभी मन्दिरों को पूर्णतया नष्ट कर दिया।* मुल्ला

*इलियट और डौसन, खण्ड ४, (तारीखे दाउदी, पृष्ठ ४४७) इस इति-

और मौलवियों से उसका घनिष्ठ सम्पर्क था। मज़हबी मजलिसों का वह आयोजन करता था और अपने शासन को भी मज़हबी रूप दे दिया था। विद्या का वह प्रेमी था और फारसी में स्वयं पद्य रचता था। शासन का दृढ़ता के सहारे वह व्यवस्था कायम रखता था। उसके कड़े नियंत्रण ने अमीरों को सिर नहीं उठाने दिया। लोदी वंश के शाहों में वह सर्वश्रेष्ठ था। अपने पिता को अधूरी छोड़ी हुई सल्तनत की इमारत को पूर्ण करने में उसने सफलता प्राप्त की।

इब्राहीम लोदी

सिकन्दर के बाद इब्राहीम लोदी सिंहासन पर बैठा। अपने उद्धत स्वभाव से उसने, शासन के प्रारम्भ से ही, अमीरों को अपने विरुद्ध कर लिया। उसके शासन-काल में शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। लोदी, लोहानी और फरमूली फिरके के कितने ही महत्व-पूर्ण पदाधिकारी अनियंत्रित हो गए। ऐसी स्थिति में विस्तृत सल्त-नत—जो पूर्व में बंगाल, दक्षिण-पूर्व में बुन्देलखंड तक फैली थी—एकाबद्ध नहीं रह सकी। इब्राहीम के क्रूर तथा कड़े व्यवहार ने अर्द्ध-भक्त अमीरों को विद्रोही बना दिया और सल्तनत का ह्रास तेज़ी के साथ होने लगा।*

विद्रोहों का विस्फोट

अमीरों के पहले विद्रोह के फल स्वरूप सुलतान का भाई जलाल जौनपुर का शासक बन गया। जौनपुर की गद्दी पर अधिकार होते ही जलाल ने अपने को सुलतान घोषित कर दिया। इस काम में कालंजर के सूबेदार अज़ीम हुमायूं ने उसका साथ दिया। किन्तु

हास ग्रंथ का प्रारम्भ लोदियों से होता है और इसमें सिकन्दर लोदी की बुद्धि और चातुर्य की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। कहा गया है कि वह एक दैवी विभूति था।

*ह्रास होना अनिवार्य था—देर या सबेर, वह होता ही। इब्राहीम अमीरों का सहयोग बनाए रखने में सफल हो जाता तब भी ये अमीर अपने छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करने से न चूकते और इब्राहीम नाम का ही सुलतान रह जाता और उसके चारों ओर गुट्टबंदियों और षड्यंत्रों में फंसे हुए ये अमीर होते! (ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ ४८७)

यह साथ निभ न सका और जलाल को भाग कर ग्वालियर में शरण लेनी पड़ी। अन्त में वह पकड़ा और मारा गया। इस विद्रोह ने इब्राहीम के स्वभाव को और भी कटु तथा कड़ा बना दिया। वह अधिक उद्धत और सन्देह शील हो गया। अज़ीम हुमायूं को उसने अपमानित किया जिससे अन्य अमीर और भी विद्रोही हो उठे। बिहार के सूबेदार दरिया खाँ ने खुले रूप में विद्रोह का झंडा ऊँचा उठा लिया। उसके पुत्र मुहम्मद ने, गद्दी पर बैठने के बाद, अपने नाम के सिक्के भी चलाने शुरू कर दिया।

मेवाड़ के महाराणा सांगा के विरुद्ध सुलतान ने जो सेना भेजी थी, उसके पांव जमे न रह सके। कितने ही सेनाधिकारी सेना को छोड़ कर शत्रु से जा मिले। पंजाब के शासक दौलतखाँ लोदी ने, जिसके पुत्र के साथ सुलतान ने क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया था, काबुल के मुगल शासक बाबर को आक्रमण करने के लिए निमंत्रित कर दिया।

बाबर का पहला आक्रमण

बाबर काबुल में अपनी स्थिति को दृढ़ बना चुका था और अपने राज्य की उत्तरी सीमा को, उज़बेकों के आक्रमण से सुरक्षित कर लिया था। सीमावर्ती पहाड़ी कबीलों पर भी उसने अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था। अतः उसने दौलतखाँ लोदी का निमंत्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। वैसे, इस निमंत्रण से भी पूर्व, सीमावर्ती प्रदेश पर वह धावा कर चुका था। १५२४ में उसने लाहौर पर चढ़ाई कर दी। इस आक्रमण का घोषित उद्देश्य था इब्राहीम के चचा आलम खाँ को, जो भाग कर उसकी शरण में चला गया था, हिन्द के सिंहासन पर बैठाना।

लाहौर को अपने कब्जे में करने के बाद बाबर काबुल लौट गया। दौलतखाँ अपना अलग खेल खेल रहा था। वह चाहता था कि पंजाब का स्वतंत्र शासक बन जाए। अतः उसने बाबर के सेनाध्यक्षों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और सूबे के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। आलम खाँ को काबुल भाग जाना पड़ा। बाबर ने सेना के साथ उसे फिर भेजा। वह खुद न आ सका क्योंकि वह उजबेकों के दमन में व्यस्त था। आलम खाँ

और दौलतखाँ दोनों ने मिल कर दिल्ली पर चढ़ाई की, किन्तु इब्राहीम ने दिल्ली की चहार दीवारी के निकट, १५२५ में, दोनों को परास्त कर दिया।

बाबर का दूसरा आक्रमण

उजबेकों से निपट लेने के बाद बाबर फिर लाहौर पहुँचा। दौलत खाँ को उसने पहाड़ियों में खदेड़ दिया और उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। इसके बाद पहाड़ियों की तलहटियों में से होता हुआ वह सतलज पहुँचा और वहाँ से सीधे दिल्ली की ओर बढ़ चला। पानीपत में उसके रण-चातुर्य—तोपों से संगठित गोला बारी, छाती-कवच से रक्षित उसकी पैदल सेना, अगल-बगल से होकर कैंची नुमा उसकी सेना का आक्रमण—ने उसे विजय पाने में सहायता दी (अप्रेल, १५२६)* इब्राहीम कत्लकर दिया गया और दिल्ली तथा आगरा पर उसका आधिपत्य हो गया। इस प्रकार उसने हिन्द में मुगल-वंश की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

---

*बाबर के पानीपत में युद्ध करने का एक प्रमुख कारण यह था कि वह पंजाब पर, तैमूर का वंशज होने के नाते, अपना जायज अधिकार समझता था; दूसरे, वह जानता था कि पंजाब पर अपना स्थायी अधिकार बनाये रखने के लिए समूचे हिन्द पर अधिकार करना जरूरी है और, सब से अन्त में, तत्कालीन राजनीतिक स्थिति ऐसी थी कि कोई भी संघर्षशील साहसी व्यक्ति अपना लोहा मनवा सकता था। बाबर ऐसा ही व्यक्ति था और उसने परिस्थितियों से लाभ उठाया। देखिए रशब्रुक विलियम्स कृत, एन एम्पायर बिल्डर आफ सिक्सटीन्थ सेंचुरी, पृष्ठ १२४।

छठा परिच्छेद

उत्तरी भारत के स्थानिक मुसलमानी राजवंश

दिल्ली की सल्तनत, मुहम्मद बिन तुगलक के शासन के प्रारम्भ में, जब कि वह अपने व्यापकतम रूप में थी, हिमालय से कोरोमण्डल तट तक और सिन्धु से उत्तर-पश्चिम में पूर्वी बंगाल तक फैली हुई थी। दक्षिण का समूचा भूप्रदेश उसमें सम्मिलित था—केवल दक्षिण-पश्चिम के उस लम्बे पर संकरे भाग को छोड़ कर, जिसकी सीमा, मोटे रूप में, बम्बई से रामेश्वर तक एक रेखा खींच कर इंगित की जा सकती है।

मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में सल्तनत की सीमाओं का इतना विस्तार तो हो गया था, मगर प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सका था। हुगली से लेकर गोदावरी तक विस्तृत उड़ीसा का प्रदेश अभी तक सिर उठाए था। राजपूताना और मध्य भारत का पहाड़ी प्रदेश भी अर्द्ध-विजित अवस्था में छोड़ दिया गया था। उपद्रवों ने इस काल में, पुराने रोग का स्थान ग्रहण कर लिया था और उनके फल स्वरूप, तुगलक के शासन के प्रारम्भिक काल में ही, दो बड़े प्रदेश अलग हो गए थे। इनमें एक था तैलंगाना का प्रदेश जो अपने पाँव पर फिर से खड़ा हो गया था और दूसरा विजयनगर का राज जो होयसालों के स्थान पर स्थापित हो गया था। इन दोनों के स्वतंत्र हो जाने का फल यह हुआ कि मुस्लिम प्रभुत्व की सीमाएँ दक्षिण में कृष्णा और पूर्व में हैदराबाद के मेरिडियन तक संकुचित रह गई। इसके बाद, अमीरों के महान विद्रोह के फलस्वरूप बहमनी राज्य की स्थापना होने पर, दक्खिन में दिल्ली के प्रभुत्व का चिन्ह सर्वथा विलीन हो गया। बहमनी राज्य की स्थापना के बाद शीघ्र ही बंगाल भी स्वतंत्र हो गया।

सल्तनत के खंडित और विच्छिन्न होने का यह क्रम, कुछ समय के लिए, फीरोज़शाह तुगलक के सिंहासन पर बैठने के बाद रुक गया। गुजरात और सिंध पर फिर से दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित करने में फीरोज़ शाह ने सफलता प्राप्त की। बंगाल को तो वह

अपने प्रभुत्व में नहीं ला सका, किन्तु उड़ीसा और जाजनगर तक उसने रौंद डाला। चौदहवीं शती के अन्तिम काल में जब अन्तिम तुगलक शाह नाबालिग अवस्था में था, गुजरात और जौनपुर फिर स्वतंत्र हो गए। उधर तैमूर के आक्रमणों ने सल्तनत की बागडोर को और भी कमजोर कर दिया और मालवा तथा खानदेश तक उससे छिटक कर अलग हो गए। दोआब, रोहेलखण्ड (कटेहर) और पंजाब अभी दिल्ली से सम्बद्ध थे, किन्तु सामन्ती अमीर उपद्रवों और दलबंदियों का घर बने हुए थे—यहाँ तक कि सैयद शासकों को अपनी समूची शक्ति उन पर अंकुश रखने के व्यर्थ प्रयत्नों में लगा देनी पड़ी। काफी कठिनाई के बाद, लोदियों के काल में, जौनपुर और बिहार पर फिर से प्रभुत्व कायम किया जा सका।

सल्तनत के ह्रास का मुस्लिम प्रभुत्व पर प्रभाव

राजपूताना और दक्षिणी भारत को छोड़ कर दिल्ली की सल्तनत की विच्छिन्नता का मुसलमानों के प्रभुत्व के विकास पर और कहीं प्रभाव नहीं पड़ा। विच्छिन्नता के फलस्वरूप जो स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, वे मुस्लिम राज्य ही थे और उनके उत्थान ने मुसलमानों के प्रभुत्व को दृढ़ करने में योग दिया। दिल्ली का प्रभुत्व, राजवंशों और शासकों के अन्तर के साथ, घटता-बढ़ता रहा। सिन्धु के पश्चिमी प्रदेश पर दिल्ली का कोई प्रभुत्व नहीं था। कश्मीर भी उसके प्रभुत्व से मुक्त था। राजपूताना, गोंडवाना, मध्य भारत का अधिकांश भाग और आसाम पहुँच से बाहर होने के कारण, दिल्ली के प्रभुत्व से बचे रहे। मोटे रूप में, साधारणतया, दिल्ली का प्रभुत्व पंजाब, इन्दस, यमुना और गंगा की वादियों (लखनौटी तक) अवध के उपजाऊ प्रान्त, और पश्चिम में अजमेर, बयाना, रणथम्भौर, ग्वालियर और कालंजर के मज़बूत गढ़ों तक विस्तृत था।

इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दुओं का प्रभुत्व और शक्ति कम हो गई थी। हिमालय के उप प्रदेश—केवल काश्मीर को छोड़ कर जिस पर १३४० ईसवी में मुसलमानों का प्रभुत्व कायम हो गया था—कांगड़ा, नेपाल और भूटान अपने-आप में स्वतंत्र थे। किन्तु हिमालय के परतल का विस्तृत प्रदेश—जिसमें रुहेलखण्ड का

काफी भाग और अवध का उप-पहाड़ी प्रदेश विजित नहीं हो सके थे। मारवाड़ और रेगिस्तानी प्रदेश से लेकर अरावली के पश्चिम तक और पूर्व में मध्य भारत को पार कर गोंदवाना के जंगली प्रदेश और उड़ीसा के अर्द्ध-विजित प्रदेश तक का समूचा भाग हिन्दुओं की शक्ति का गढ़ था। हिन्दू, राजपूत और आदिवासी राज्यों का यह 'मध्य केन्द्र' था और इसका हिमालय के पहाड़ी राज्यों के उत्तरी तथा विजयनगर और वारंगल के हिन्दू राज्यों के दक्षिणी केन्द्र से अलग अपना महत्व और प्रभाव था। प्रतापरुद्र द्वितीय के बाद वारंगल का राज्य काफी कमज़ोर हो गया था, चौदहवीं शती में तेज गति के साथ उसका ह्रास होता गया और अन्त में १४२३ ईसवी में वह बहमनी राज्य में मिला लिया गया। उड़ीसा के गजपतियों ने, उत्तर में, इसके लिए स्थायी संकट का रूप धारण कर लिया था। किन्तु हिन्दू शक्ति के 'मध्य केन्द्र' पर मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सका। इसका कारण यहां के राजपूतों और आदिवासियों की शूर-वीरता और यहाँ के घने जंगल थे जिन्हें, उत्तर की ओर से, वेध कर आक्रमण करना अत्यन्त कठिन था।

दिल्ली, जौनपुर और बंगाल के मुस्लिम नवाबों का राजपूताना, मध्य भारत और उड़ीसा से निरन्तर संघर्ष होता रहता था। मुस्लिम शासक हिन्दू राजाओं को अपना निवाला बनाने के लिए टक्कर लेते रहते थे। एक ओर गुजरात, खानदेश और मालवा की मुस्लिम रियासतों का गुट था और दूसरी ओर राजपूताना और मध्य भारत के हिन्दू राजा थे। इनमें रस्साकशी चलती रहती थी। वे एक-दूसरे को दाबते भी थे, दबाए भी जाते थे। खुद इन मुसलमानी रियासतों और बहमनी राज और दक्खिन में उसके अन्य उपराज्यों के बीच भी निरन्तर क्रिया-प्रक्रिया चलती रहती थी। विजय- नगर और बहमनी राज्य के बीच भी तनाव रहता था। इन दोनों में निरन्तर, मगर अवकाश के साथ, रायचूर के कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब में मुठभेड़ होती रहती थी। इनकी मुठभेड़ और संघर्ष के फलस्वरूप नयी राजनीतिक शक्ति और परिस्थितियां उत्पन्न होती थीं।

अकबर और उसके उत्तराधिकारियों के काल में इन संघर्षरत मुस्लिम राज्यों ने मिल कर मुगल सल्तनत का रूप धारण कर लिया।

छठा परिच्छेद

बंगाल की अवस्था

मुहम्मद बख्तियार खिलजी के आधिपत्य के समय से ही बंगाल ने, यथार्थतः, एक अलग राज्य का रूप धारण कर लिया था। दिल्ली के प्रभुत्व को इसने स्वीकार किया, किन्तु इस स्वीकृति के पीछे वास्तविकता नहीं थी। १२०५ में अपनी मृत्यु से पहले बख्तियार खिलजी ने पूर्व में नदिया और उत्तर में कूच-विहार तक अपने पाँव फैला लिये थे। लखनौती (गौड) की पुरानी हिन्दू राजधानी को उसने अपना अड्डा बनाया था। लखनौती मालदा जिले में गंगा के बाँये तट पर स्थित थी।

बख्तियार खिलजी का शासन मिथिला (बिहार), वरेन्द्र और डेल्टा के कुछ भाग तक था। बंगाल का राज्य बहुत दिनों तक इन प्रदेशों में ही बना रहा, किन्तु आगे चल कर उसका और भी विस्तार हुआ और उसके प्रभाव में छोटा नागपुर और ब्रह्मपुत्र के पूर्वी प्रदेश भी आ गये। बख्तियार के उत्तराधिकारियों के काल में इसका और भी विस्तार हुआ और १२२५-२६ तक दास-सुलतान अल्तमश ने बिहार पर विजय प्राप्त कर ली और अपने पुत्र को बंगाल भेजा। बंगाल आकर अल्तमश के पुत्र ने वहाँ के मुसलमान सूबेदार को मार डाला और खुद लखनौती में बैठकर शासन करना शुरू किया।

इसके बाद, दिल्ली के अनुशासन में, एक के बाद एक बंगाल पर कितने ही सूबेदारों ने शासन किया। इनमें से एक ने १२५३ में फिर दिल्ली के प्रति विद्रोह किया, किन्तु अन्त में उसे झुकना पड़ा। १२७७ में तुगरील बंगाल का सूबेदार हुआ। वह बलबन के यहाँ दास रह चुका था। १२७९ में उसने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और दिल्ली की सेनाओं को दो बार पराजित करने में सफलता प्राप्त की। बलबन ने जाजनगर और पूर्वी बंगाल में सोनार गाँव तक उसका पीछा किया और १२८२ में निर्ममता के साथ उसका अन्त कर दिया। इसके बाद के पाँचों सूबेदार बलबन-वंश के ही सदस्य हुए और १३३१ तक शासन करते रहे। बलबन का दूसरा पुत्र बुगराखाँ इन पाँच सूबेदारों में सबसे पहला था। दिल्ली में रहकर संघर्षों में फंसे रहने के बजाय उसने दूरस्थ बंगाल जाना

अधिक पसन्द किया, यद्यपि पुत्र होने के कारण वह दिल्ली के सिंहासन पर बैठ सकता था।*

बुगराखाँ के दूसरे पुत्र की मृत्यु के बाद बंगाल में गृहयुद्ध की आग भड़क उठी। उसका दमन करने के लिये गयास उद्दीन तुगलक ने बंगाल पर चढ़ाई कर वहाँ दिल्ली का प्रभुत्व फिर स्थापित कर दिया। इस काल तक मुस्लिम शासन का विस्तार पूर्वी बंगाल में आज के ढाका जिला में स्थित सोनार गाँव तक हो गया था।

खुद बंगाल भी अपनी सीमाओं के भीतर, आंतरिक संघर्ष और दलबंदियों से मुक्त नहीं था। १२९७ के लगभग बंगाल दो खंडों में बंट गया। सोनार गाँव और लखनौती के प्रतिद्वन्द्वी नगरों में प्रतिद्वन्द्वी नवाब शासन करने लगे। १३५२ तक यह विभाजन चलता रहा, किन्तु ये दोनों मुहम्मद बिन तुगलक के प्रभुत्व को मानते थे। १३३८ में सोनार गाँव के नवाब ने, फ़खरुद्दीन मुबारक शाह नाम से, अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। लखनौती के प्रतिद्वन्द्वी नवाब के एक अधिकारी ने, जो खुद नवाब होने का दावा करता था, उसे मार डाला। किन्तु बाद में वह स्वयं मारा गया और उसकी जगह उसके सौतेले भाई इलियास शाह ने नवाबी की बागडोर संभाली।

इलियास शाह बहुत दिनों से लखनौती की गद्दी पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहा था। १३४५ में उसने नवाबी ग्रहण की। १३५२ में उसने सोनार गाँव पर भी अधिकार कर लिया। कहा जाता है कि उसने उड़ीसा में जाजनगर और उत्तरी बिहार में तिरहुत पर चढ़ाई की थी। लखनौती से स्थानांतरित कर उसने पनदुआ को अपनी राजधानी बनाया। यह सम्भवतः इसलिए कि पनदुआ से वह प्रतिद्वन्द्वी राजधानी सोनार गाँव पर आसानी के साथ आक्रमण कर सकता था।

फीरोज़शाह तुगलक ने इलियास शाह के विरुद्ध चढ़ाई की, किन्तु सफल न हो सका। अन्त में, १३५६ में, दिल्ली के सुलतान ने बंगाल की स्वतंत्रता को रस्मी तौर से स्वीकार कर लिया। इसके बाद शीघ्र ही इलियास शाह की मृत्यु हो गई।

---

*देखिए इम्पीरियल गजेटियर (नया संस्करण) खंड दो, पृष्ठ ३७१ पर विलियम इरवाइन का लेख।

इलियास शाह के उत्तराधिकारी

इलियास शाह के उत्तराधिकारी बंगाल पर १४०७ तक शासन करते रहे। उसके पुत्र सिकन्दर शाह (१३५७-९३) को फीरोज़शाह तुगलक के एक अन्य आक्रमण से लोहा लेना पड़ा। इस आक्रमण से उसकी शक्ति में विशेष कमी नहीं आई और अनुकूल शर्तों पर उसने दिल्ली की मान्यता स्वीकार कर ली। पनदुआ में उसने कुछ शानदार इमारतें बनवाईं। अपने विद्रोही पुत्र को व्यवहारतः, सोनार गाँव का स्वतंत्र शासक बने रहने दिया। उसके बाद एक वर्ष तक आज़म ने शासन किया। आज़म ने साहित्यप्रेमी के नाते अच्छी ख्याति प्राप्त की। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, १४०७ में, इलियास-वंश के बाद हिन्दू राज-परम्परा का श्रीगणेश हुआ। इस परम्परा का संस्थापक राजा कंस था। उसका जो विवरण प्राप्त है, उससे पता चलता है कि वह कट्टर हिन्दू था। बिना राजसी उपाधियों और विरुदों के उसने १४०७ से १४१४ तक शासन किया। उसके पुत्र और पौत्र ने इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया और उनके धर्म-परिवर्तन का ही सम्भवतः फल था कि पूर्वी बंगाल की जनता ने भी, बहुसंख्या में, इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया। तभी से, आज दिन तक, पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत स्थापित है।

इस परम्परा का इलियास शाह के एक वंशज ने अन्त कर दिया। इसके बाद, कुछ वर्षों तक, अबीसीनिया के हब्शी दासों का शासन चला। १४९३ में गद्दी अरबी सैयदों के हाथ में चली गई। अरबी सैयदों में पहला नवाब हुसेन शाह था। उसने १४९३ से १५१८ तक शासन किया और पर्याप्त ख्याति तथा गौरव की उपलब्धि की।

हुसेन शाह ने दिल्ली के सिकन्दर लोदी की सेनाओं का प्रतिरोध किया। आसाम पर उसने धावा किया। उसके पौत्र पर, १५३८ ई० में, मुगल बादशाह हुमायूँ ने विजय प्राप्त की किन्तु बंगाल पर वह भी अधिक दिनों तक प्रभुत्व न रख सका और सुप्रसिद्ध अफगान शासक शेरखाँ सूर ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। १५३९ में शेरखाँ ने अपने को बंगाल और विहार का नवाब घोषित कर दिया। आगे चल कर, सूर-वंश के दिल्ली पर अधिकार

हो जाने के बाद, बंगाल पर सूर-वंश के सम्बंधी शासन करते रहे। १५७२ में शेरखाँ की मृत्यु के बाद गृहयुद्ध उठ खड़ा हुआ जिसे दबाने के लिए सम्राट् अकबर ने चढ़ाई कर दी। इस प्रकार, दो बार चढ़ाई करने के बाद, १५७५-७६ में, दिल्ली की सल्तनत में उसे फिर मिला लिया गया, यद्यपि उस पर पूरा प्रभुत्व इसके कई वर्ष बाद ही स्थापित हो सका। उड़ीसा पर भी अकबर ने विजय प्राप्त की और उसे अपने अनुशासन में कर लिया।*

बंगाल के इस स्वतंत्र इतिहास से दिल्ली की सल्तनत की कमज़ोरी का परिचय मिलता है। दिल्ली और बंगाल के बीच जौनपुर का राज्य आरे का काम करता था। बंगाल के सुलतानों का इतिहास, अधिकांशतः, लड़ाइयों से भरा है। उनमें से कुछ अपनी हिन्दू-प्रजा को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे। कुछ ने अपने साहित्य-प्रेम का भी अच्छा परिचय दिया। हुसेनशाह के पुत्र नसरत शाह ने महाभारत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद करवाया। बंगला साहित्य के इतिहास में स्वयं हुसेन शाह का उल्लेख भी आदर और प्रेम के साथ किया जाता है।

१५२८ में, नसरत शाह के काल में ही, पुर्तगीज़ बंगाल में आगए थे। चटगाँव में उनके दुर्व्यवहार के कारण नसरत शाह को उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी जिसका बदला उन्होंने बन्दरगाह को जला कर लिया।

जौनपुर की अवस्था

अन्तिम तुगलक शासक के मंत्री ख्वाजा जहाँ ने अपने शक्ति-

---

* खारवेल के बाद का उड़ीसा का इतिहास तिमिराछन्न है। ४७४ ईसवी में ययाति केशरी ने यवनों को निकाल बाहर किया था। उसके उत्तराधिकारी—केसरी वंश—११३२ ईसवी तक शासन करते रहे। जजपुर उनकी राजधानी थी। पूर्वी गंगा, जो मूलतः दक्षिण के निवासी थे, बाद में आए और पन्द्रहवीं शती के मध्य तक शासन करते रहे। फिर सूर्यवंशियों का राज्य स्थापित हुआ जिनमें प्रतापरुद्र गजपति (१५०४—३२) का नाम उल्लेखनीय है। उसके मंत्री ने फिर सिंहासन पर कब्जा कर लिया, किन्तु वह भी सिंहासन पर बना न रह सका और बंगाल के दाऊद खाँ ने उसे अपदस्थ कर दिया। उड़ीसा में अफगानों के शासन का पूर्णतया अन्त १६०० ईसवी के लगभग हुआ।

विहीन स्वामी को छोड़ कर जौनपुर में एक नये स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। अपने चचेरे भाई मुहम्मद बिन तुगलक की स्मृति में फीरोज़ तुगलक ने गोमती के किनारे जौनपुर को बसाया था। ख्वाजा जहाँ को तुगलकों से मलिकुल-शर्क की उपाधि मिली थी। शीघ्र ही वह इतना शक्तिशाली हो गया कि लखनौती और जाजनगर के राजे उसे नज़राना देने लगे।

इब्राहीम शर्की (१४०२-१४३६) बहुत ही प्रतिभाशाली शासक था। कन्नौज को उसने दिल्ली से प्राप्त किया था। यहाँ उसने सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली स्थापित की, कला और स्थापत्य को प्रोत्साहन दिया, कितने ही विद्वानों को अपने दरबार में आमंत्रित किया, और पूर्व में जौनपुर को उसने मुस्लिम ज्ञान का केन्द्र बनाया।* १४२७ के लगभग इब्राहीम ने दिल्ली को भी आतंकित कर दिया और यमुना पर स्थित कालपी पर आधिपत्य करने के लिए मालवा के शासक से युद्ध किया।

हुसेनशाह शर्की

इब्राहीम के पुत्र महमूद ने भी मालवा से संघर्ष जारी रखा, १४५२ में उसने दिल्ली को भी धमकी दी, बनारस के निकट चुनार पर उसने अधिकार कर लिया और उड़ीसा पर भी चढ़ाई की। अन्तिम शर्की सुलतान हुसेनशाह (१४५९-७६) ने भी उड़ीसा पर आक्रमण किया, ग्वालियर के शासक को उसने नज़राना देने के लिए बाध्य कर दिया और १४७३ में दिल्ली पर चढ़ाई कर उसके निकट के इलाके पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसे पराजित होना पड़ा और बहलोल लोदी ने उसे पीछे हटने के लिए बाध्य किया। अगले वर्ष उसने फिर चढ़ाई की, पर सफल न हो सका। अन्त में बहलोल लोदी के नेतृत्व में दिल्ली की सेनाओं ने आगे बढ़कर जौनपुर पर अधिकार कर लिया। हुसेनशाह बहिष्कृत कर दिया गया और बहलोल लोदी के

---

* एक लेखक ने इब्राहीम लोदी को पूर्व का मसीहा कहा है। उसने अटाला की सुप्रसिद्ध मसजिद बनवाई थी जो उसकी स्थापत्य सम्बंधी परिष्कृत रुचि की परिचायक है। देखिए फ्यूहरर कृत "दि शर्की आर्कीटेकचर आफ जौनपुर और मुहम्मद फसीहउद्दीन कृत "दि किंग्स अ.फ दि ईस्ट" पृष्ठ ४५।

एक पुत्र ने जौनपुर के शासन की बागडोर संभाली। जौनपुर के इस नये शासक ने बहिष्कृत हुसेनशाह के साथ मिलकर षड्यंत्र किया और अपने भाई, दिल्ली के सुलतान, सिकन्दर लोदी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। किन्तु उसे १४९३ में पराजित होना पड़ा। इस प्रकार शर्की राज्य का अन्त हो गया और हुसेन शाह ने, शरणार्थी के रूप में, बंगाल में अपने जीवन के शेष दिन बिताए।

अपने दूसरे पुत्र जलाल खाँ के लिए सिकन्दर लोदी ने शर्की राज्य को पुनर्जीवित करने का एक अल्प-कालिक प्रयत्न किया था। शेष भारत की स्थिति अव्यवस्थित तथा अशान्त होने के कारण इस अल्पकालिक शर्की राज्य ने काफी महत्व प्राप्त कर लिया जो, अन्य अवस्था में कभी सम्भव न होता। अनेक विद्वानों ने यहाँ आकर शरण ली और यह सहज ही विद्या का केन्द्र बन गया। इस काल में जो इमारतें बनीं वे आज तक हमारी प्रशंसा का पात्र बनी हुई हैं।* सुन्दर इमारतों के लिए जौनपुर प्रसिद्ध हो गया। विद्या का केन्द्र होने के नाते भी इसकी ख्याति हुई और यह "हिन्द का शीराज़" कहा जाने लगा जो इसके सर्वथा उपयुक्त था। जौनपुर की मसजिदें अपनी एक अलग विशेषता रखती हैं।

कश्मीर की अवस्था

मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए कश्मीर, बहुत दिनों तक उनकी पहुँच से बाहर बना रहा और वे उस पर आक्रमण नहीं कर सके। किन्तु आन्तरिक कलह और घरेलू संघर्ष उसे घुन की तरह खाए जा रहा था। जयसिंह (११२८-११५५) कश्मीर का बहुत ही शक्तिशाली राजा था, उसकी मृत्यु के बाद, घरेलू संघर्ष और भी प्रबल हो उठा और, पूरी दो शतियों तक, एक भी इतना शक्तिशाली या चतुर शासक नहीं उत्पन्न हो सका जो आन्तरिक संघर्ष का दमन कर राज्य को सुव्यवस्थित तथा संगठित कर सकता। फलतः अगर कश्मीर पर मुसलमानों का आधिपत्य नहीं हो सका तो इसलिए कि एक तो वह अलग पड़ता था, दूसरे प्राकृतिक बाधाएँ इतनी थीं कि उन्हें पार कर आक्रमण करना प्रायः असम्भव

* डब्ल्यू. इरवाइन, इम्पीरियल गजेटियर (नया संस्करण) खंड २, पृष्ठ ८७५

था। अन्यथा कश्मीर के पास ऐसी कोई सैनिक शक्ति नहीं थी जो आक्रमण को को रोक सकती।*

चौदहवीं शती के प्रारम्भ-काल में कंधार के शाह ने कश्मीर पर आक्रमण किया था और काफी माल लूट कर वह यहाँ से ले गया था। पर्शियन योद्धा शाह पीर ने, कश्मीर की अस्तव्यस्त अवस्था से लाभ उठा कर, आक्रमण किया और हिन्द राज्य के अन्तिम प्रतिनिधि का नाश कर १३३७-३८ में कश्मीर में अपना राज्य स्थापित कर लिया। उसके तथा उसके उत्तरा धिकारियों के शासन-काल में कश्मीर में इसलाम का प्रसार हुआ और यहाँ के निवासियों के अधिकांश भाग ने धर्म-परिवर्तन कर लिया। हिन्दू मूर्तियों के स्थान पर, उपासना-गृहों में, मुसलमान सन्तों ने स्थान ग्रहण कर लिया। किन्तु यह सब होने पर भी पुराने रीति-रिवाजों, प्रथाओं और विश्वासों को जनता ने नहीं छोड़ा और उनका पूर्ववत पालन करती रही। शासकों ने भी जनता के विश्वासों और रीति रिवाजों में विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। शाहपीर ने योग्यता और उदाहरण के साथ अपनी शक्ति का उपयोग किया। कितने ही दुखःदायी करों को उसने उठा दिया और भूमि-कर पैदावार का एक छठा-भाग नियुक्त कर दिया।

शाह मीर के बारह उत्तराधिकारियों ने कश्मीर पर राज किया। इनमें बुतशिकन सिकन्दर (१३८९-१४१०) और ज़ैनुल आब्दीन (१४२१ ईसवी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिकन्दर ने जनता को मुसलमान बनाने के कार्य को बहुत प्रोत्साहित किया और समय रहते तैमूर के प्रभुत्व को स्वीकार करके उसने राज्य को तैमूर के आक्रमण से बचा लिया। सिकन्दर और उसके उतने ही धर्मांध वज़ीरों ने अधिकांश मन्दिरों को नष्ट कर दिया और यहाँ के कितने ही ब्राह्मणों को ज़बर्दस्ती मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया। परिणामतः आज कश्मीर में प्रति १०,००० के पीछे ५०० हिन्दुओं की आबादी रह गई है।

जैनुल आब्दीन को 'कश्मीर का अकबर' कहा जा सकता है।

---

* देखिए रामचन्द्र काक लिखित 'ऐन आउट-लाइन आफ दि हिस्ट्री आफ कश्मीर, ए गाइड टू कश्मीर मान्यूमेंट्स में जो दी हुई है।

उसने दीर्घकाल तक (१४७२ ईसवी तक) शासन किया। उसके शासन-काल में कश्मीर श्रीसम्पन्न रहा। हिन्दुओं के प्रति वह सहनशील था। अनेक संस्कृत ग्रंथों, जैसे महाभारत और कल्हण रचित राजतरंगिणी का उसने फारसी में अनुवाद करवाया। उसका दरबार शानदार था। सिंचाई के बेकार पड़े साधनों को उसने फिर से ठीक किया और शाल-दुशाले, काग़ज़ और कशीदाकारी के उद्योग को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। वह, निस्सन्देह, कश्मीर का बादशाह—शाह से भी आगे बढ़ा हुआ सच्चा शाह था।

मुगलों का आधिपत्य

अगली अर्द्ध शती में कश्मीर की अराजकता और अव्यवस्था से लाभ उठा कर मुगल सम्राट बाबर के चचेरे भाई मिरज़ा हैदर दौलत ने आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार कर लिया और सम्राट् हुमायूँ की ओर से, १५५१ तक कश्मीर पर शासन करता रहा। उसके बाद पुराने राजकुल ने फिर अपना स्थान ग्रहण कर लिया, किन्तु शीघ्र ही चक नायक गाज़ी शाह ने आक्रमण कर अपना सिक्का जमा लिया और अगले तीस वर्ष तक शासन करता रहा। लेकिन, आन्तरिक संघर्ष के कारण, गाज़ी शाह की शक्ति बहुत क्षीण हो गई और अन्त में, १५७६ में, मुगलों ने कश्मीर पर अपना आधिपत्य जमा लिया। गाज़ी शाह को, अपनी इच्छा से सिंहासन छोड़ देने के कारण, अकबर ने अपने दरबार के अमीरों में सम्मिलित कर लिया।

आधिपत्य होने के बाद शीघ्र ही अकबर ने कश्मीर की यात्रा की। यह उसकी पहली यात्रा थी। इसके बाद एक बार और वह कश्मीर आया। अकबर के उत्तराधिकारियों के लिए कश्मीर विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया। गरमी की ऋतु वे यहीं बिताते थे। आज भी कश्मीर का एशिया में—बल्कि दुनिया में—अपने सौन्दर्य के लिए विशेष स्थान माना जाता है।

सिंध और मुलतान

सिंध का सूबा शायद ही कभी दिल्ली के प्रभुत्व में रहा हो। बहुत दिनों तक इसके शासक अपने को खलीफाओं का प्रतिनिधि घोषित करते रहे और इस प्रकार उन्होंने अपने को स्वतंत्र राज्य की

नींव डाल ली। १०१० में गज़नी के सुलतान महमूद ने सिंध पर विजय प्राप्त की थी और तब से सिंध उसके प्रभुत्व में बना रहा। इसके बाद, १०५३ में, स्थानिक राजपूतों की एक शाखा सुमराओं ने शक्ति ग्रहण की और लगभग ३०० वर्षों तक (१०५०—१३५१ ईसवी) वे सिंध पर शासन करते रहे। उन्होंने इसलाम धर्म कबूल कर लिया था। उनकी सत्ता न तो विस्तृत थी, न प्रभावशाली। समय-समय पर दिल्ली की सेनाओं और मुगलों के धावे उन पर होते रहते थे। नासिरउद्दीन कुबैच ने मुलतान और उच्छ पर आक्रमण कर सुमरा सरदारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मुहम्मद बिन तुगलक और उसके उत्तराधिकारी ने भी अपने प्रभुत्व और सत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया और फीरोज़ तुगलक ने ठट्टा के जामसाहब पर विजय प्राप्त कर ली। १३५१ के लगभग सुमरा सरदारों को एक दूसरे स्थानिक कबीले—सम्मार ने अपदस्थ कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। सम्मार अपने को जमशेद का वंशज बताते थे और अपने को जाम कहते थे। सुमराओं की तरह उन्होंने भी शीघ्र ही इसलाम धर्म कबूल कर लिया। चंगेज़ खाँ के वंश से निकले अरगुनों के एक वंश ने सिंध पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार सम्मारों की सत्ता भी लुप्त हो गई।

अरगुन कंधार के निवासी थे। मुगल सल्तनत के संस्थापक बाबर के दबाव से उन्हें कंधार छोड़ना पड़ा और वे सिंध में आकर जम गए। हुमायूँ ने अपने भ्रमण-काल में कुछ समय सिंध में बिताया था। अरगुनों के बाद उन्हीं के वंश की एक और शाखा जो तरखान कहलाती थी, सिंध में आई। ये तरखान सिंध पर उस समय तक शासन करते रहे जब तक कि वह, १५९२ में, मुग़ल सल्तनत का अंग न बना लिया गया।

अल्तमश द्वारा कुबैच की पराजय से लेकर तैमूर लंग के आक्रमण तक मुल्तान दिल्ली के साथ सम्बद्ध रहा। सैयदों के काल में यह दिल्ली से सर्वथा अलग हो गया और एक अरब शेख वंश—लंघा वंश—के शासन में आ गया। इस वंश के अन्तिम शासक को, १५२५ में, सिंध के शाहहुसेन अरगुन ने अपदस्थ कर

दिया। इसके बाद, हुमायूँ के काल में, मुलतान फिर दिल्ली से सम्बद्ध हो गया।

गुजरात की अवस्था

गुजरात की उपजाऊ और सम्पन्न भूमि, बहुत दिनों तक, अपनी दुर्गम और पहुँच से बाहर स्थिति के कारण—विस्तृत रेगिस्तान और विंध्या तथा अरावली का सम्बंध स्थापित करने वाली पहाड़ी-शृङ्खला के कारण—मुस्लिम आधिपत्य से मुक्त रही। केवल समुद्र का मार्ग ही ऐसा था जिससे मुसलमान गुजरात पर आक्रमण कर सकते थे। परिणामतः गुजरात १२९७ तक मुक्त रहा और इसके बाद, दिल्ली की सलतनत से सम्बद्ध हो जाने पर भी, यहाँ के शासक समान रूप से दिल्ली के भक्त नहीं रह सके। चौदहवीं शती के अन्त में गुजरात फिर स्वतंत्र हो गया, किन्तु मुस्लिम शासन में ही रहा। ज़फ़रखाँ यहाँ का सूबेदार था। वह राजपूत से मुसलमान बना था। १३९१ में वह गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ और इसके पाँच वर्ष बाद उसने अपने को दिल्ली से स्वतंत्र घोषित कर दिया। मुज़फ्फर शाह की उसने उपाधि धारण की।*

प्रारम्भ में मुज़फ़्फर शाह की शक्ति बहुत सीमित थी। अनेक विरोधियों से—विरोधी राजपूत राजाओं और जंगली भीलों से—वह घिरा था। उसका अधिकार-प्रदेश भी बहुत सीमित था—समुद्र और पहाड़ियों के बीच का प्रदेश ही उसके पास था। लेकिन वह एक सशक्त और सक्रिय शासक था। उसने अपना प्रभुत्व इयू और झालावाड़ तक विस्तृत कर लिया और, कुछ समय के लिए, १४०७ में, मालवा पर भी उसका अधिकार स्थापित हो गया।

इसके बाद उसका पौत्र अहमद शाह गद्दी पर बैठा। अहमद शाह को हम गुजरात की महानता का वास्तविक संस्थापक कह सकते हैं। उसने अहमदाबाद नगर बनवाया जो उसके राज्य की राजधानी बन गया और, बाद में, मुगल शासकों के अन्तर्गत भी यह नगर राजधानी बना रहा। स्वतंत्र मुस्लिम शासन और बाद के मुगल

---

*उसके स्वतंत्र होने की दो तिथियाँ बताई जाती हैं—१४०१ ईसवी और १४०३-४ ईसवी।

शासन-काल के स्मृति-चिन्हों—विशेषरूप से उस काल की सुन्दर इमारतों—से यह नगर भरपूर है। *

अहमद शाह ने सम्पन्न शासन का उपभोग किया। अनेक सुन्दर इमारतों से उसने अहमदाबाद के सौन्दर्य में वृद्धि की। अपने दादा के पद चिन्हों पर चल कर उसनें भी मालवा के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा और काठियावाड़ को अपने वश में रखने का प्रयत्न करता रहा। इसके सिवा उसने खानदेश और बहमनी के सुलतानों से भी मोर्चा लिया।

अहमदशाह कट्टर मुसलमान था। किन्तु अपने राज्य में उसने शान्ति कायम रखी और न्याय की प्रथा को दूषित नहीं होने दिया। उसके बाद दूसरा महत्वपूर्ण शासक मुहम्मद शाह बिगारा (१४१८-१५११ ईसवी) हुआ।† वह इस राजवंश का सब से बड़ा शासक था। खानदेश और मालवा से उसने भी खान्दानी संघर्ष जारी रखा। काठियावाड़ में चम्पानार और गिरनार के पहाड़ी दुर्गों पर उसने विजय प्राप्त की थी। कूच को रौंद कर वह सिन्धु के डेल्टा तक पहुँच गया था और वहाँ के बलूचियों का उसने दमन किया था। द्वीप के और द्वारका के समुद्री डाकुओं का दमन करने के लिये उसने काफी बड़ा बेड़ा तैयार किया था। अपने शासन के अन्तिम काल में उसने पुर्तगीज़ पर भी आक्रमण किया। वे पश्चिमी तट पर दुर्दमनीय शक्ति का रूप धारण करते जा रहे थे। मिश्र के मम्लूक सुलतान से गठ-बन्धन कर उसने पुर्तगीज़ बेड़े पर आक्रमण किया और उस व्यापार को जो उनके हाथ में चला गया था, छीनने का प्रयत्न किया। १५०८में उसने इस प्रकार जो सफलता प्राप्त की, आगे चल कर ड्यू में पुर्तगीज़ की विजय के कारण वह नष्ट हो गई। इसके बाद समुद्री तट से होने वाला समूचा व्यापार पुर्तगीज़ों के हाथ में चला गया

---

*देखिए बर्गेस लिखित 'मुहम्मडन आर्कीटैक्चर आफ गुजरात, मुहम्मडन आर्कीटैक्चर आफ अहमदाबाद, (ए. एस. डबल्यू. आई)

†उसके उप नाम बिगारा का सही आशय या भावार्थ "दो दुर्गों" से हैं,—चम्पानीर और गिरनार के दुर्ग-जिन्हें उसने अपने अधिकार में कर लिया था।

और इनका गुजरात और मिश्र के संयुक्त बेड़े का प्रतिरोध व्यर्थ हो गया।*

मुहम्मद शाह बिगारा का व्यक्तित्व असाधारण था। कहा जाता है कि उसकी मूँछें इतनी बड़ी थीं कि वह उन्हें अपने सिर के ऊपर बाँध कर रखता था। खाना वह भारी मात्रा में खाता था और विष का उस पर कोई असर नहीं होता था। उसके विचित्र व्यक्तित्व की अनेक कहानियाँ युरोप तक प्रसिद्ध थीं। एक इतिहासकार के शब्दों में वह गुजरात का सब से महान शासक था, "न्याय-प्रियता की दृष्टि से, उदारता की दृष्टि से, धर्म-युद्ध और इसलाम के प्रचार की दृष्टि से, समझ-बूझ और बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णयों की दृष्टि से, वह प्रत्येक दृष्टि से मान्य था। उसका वह रूप देखिए जब वह युवक था (चौदह वर्ष की अवस्था में वह सिंहासन पर बैठा था), फिर वह रूप जब वह प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुआ, फिर वृद्धावस्था का रूप—सभी रूप शक्ति, साहस और विजय की सूचना देते हैं।"†

बिगारा के पुत्र मुज़फ्फरशाह द्वितीय (१५११-२६) ने मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह का बहुल शक्ति से मालवा के मसलमान शासक की रक्षा करने के लिए गहरे प्रयत्न किये। राणा संग्राम सिंह के आक्रमण का खतरा गुजरात तक को हो गया था।

दो अन्य अल्पकालिक और अशान्त शासन के बाद बहादुरशाह गुजरात की गद्दी पर बैठा। वह बहादुर था और उसने अपने राज्य की संघर्षमयी परम्परा को साहस के साथ कायम रखा। सब से पहले उसने बहमनी सुलतानों की अव्यवस्थित स्थिति की ओर ध्यान दिया। बहमनी राज्य पाँच स्वतंत्र सुलतानों में बँट गया था। बहादुर

---

*कहा जाता है सुलतान ने अपने बेड़े के निर्माण में वेनेशियन कारीगरों से सहायता ली थी। प्रथम संघर्ष का जो वर्णन पुर्तगीज़ और मुसलमान इतिहासकारों ने किया है, वह एक-दूसरे से भिन्न है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुर्तगीज़ की बढ़ती को इसने रोक दिया था। १५१० में सुलतान ने गोवा के गवर्नर अल्बूकर्क को ड्यू का दुर्ग समर्पित कर दिया।

†देखिए ई० सी० बेला कृत लोकल मुहम्मडन डाइनेस्टीज़ आफ गुजरात, पृष्ठ १८१; मीराते सिकन्दरी।

शाह ने उन्हें ठीक किया और खानदेश तथा बेरार को अपने प्रभुत्व में आने के लिए बाध्य किया। इसके बाद उसने मालवा पर चढ़ाई की, मांडू को चारों ओर से घेर कर उस पर अधिकार किया और इसके साथ-साथ रायसिन, भीलसा और चन्देरी के दृढ़ दुर्गों पर भी अपना अधिकार किया (१५३१-३२ ईसवी)। मालवा गुजरात में सम्मिलित कर लिया गया। ड्यू में जो उसकी सेना नियुक्त थी, उसने सफलता के साथ पुर्तगीज़ों के हमले को व्यर्थ कर दिया। १५३४ में उसने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर आक्रमण किया, पर हुमायूँ ने, जो कि उससे असन्तुष्ट था, राजपूतों की रक्षा की और उसे पहले मालवा और फिर चम्पानीर, कम्बोद और अन्त में ड्यू में शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया।

इस प्रकार मुगल सम्राट् ने गुजरात पर अपना आधिपत्य कर लिया; किन्तु बहादुर शाह का भाग्य अच्छा था। बंगाल में शेरशाह के विद्रोह की घटना ने हुमायूँ को आगरा लौटने के लिए बाध्य कर दिया। बहादुरशाह ने इस अवसर से लाभ उठाया। उसने शीघ्र ही अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त कर लिया और मुगल अधिकारियों को गुजरात से भगाने में सफलता प्राप्त की (१५३५ ईसवी)। इसके बाद ड्यू को लेकर पुर्तगीज़ों से उसका संघर्ष हुआ जिसमें वह मारा गया (१५३७ ईसवी)।

बहादुरशाह महान शासक था—एक योद्धा की दृष्टि से और उदारता की दृष्टि से भी। गुजरात के क्षमताशाली शासकों की परम्परा में वह अन्तिम कड़ी था। उसकी मृत्यु के बाद गुजरात की शक्ति तेज़ी से क्षीण होती गई। किन्तु फिर भी, दुर्बल शासकों और घरेलू संघर्षों के बीच, चालीस वर्ष तक उसका स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। १५७२ में अकबर ने उस पर आधिपत्य कर लिया। अन्तिम शासक ने गद्दी त्याग दी और अहमदाबाद में मुगल शासन स्थापित हो गया। लेकिन, सिंहासनच्युत शासक ने, १५८३ में, फिर विद्रोह किया। यद्यपि उसका विद्रोह कुचल दिया गया, पर मुगल सूबे पर पूर्णतया अपना अधिकार नहीं जमा सके और १५९२-९३ तक, जब तक कि विद्रोही शासक की मृत्यु नहीं हो गई, उन्हें अनेक बार सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी।

मालवा की स्थिति

नर्मदा के उत्तर में बहुत ही उपजाऊ केन्द्रीय पठार है। जन-साधारण में यह विश्वास प्रचलित है कि यहाँ कभी सूखा नहीं पड़ता—अकाल यहाँ से दूर भागता है। यही मालवा खास है। यहाँ बहुत दिनों तक परमार राजपूत शासन करते रहे। धार उनकी राजधानी था। अल्तमश ने मालवा पर आक्रमण किया और उज्जयनी के मन्दिरों को उसने गिरा दिया। किन्तु वह मालवा में मुस्लिम शासन नहीं स्थापित कर सका। मुस्लिम शासन अला-उद्दीन के काल में, लगभग १३०५ में, स्थानिक राय की हत्या के बाद कायम हुआ। १३२६ से कुछ पहले दिलवरखाँ गौरी यहाँ का शासक था। १४०१ में, तैमूर के आक्रमण से उत्पन्न अस्तव्यस्त परिस्थितियों से लाभ उठा कर, उसने मालवा को स्वतंत्र घोषित कर दिया। हिन्दू नगर धार को उसने अपनी राजधानी बनाया। उसके सुप्रसिद्ध पुत्र होशंग शाह (१४०१-३४) ने नर्मदा के तट पर होशंगाबाद नगर बसाया और धार को छोड़ कर माण्डू में उसने अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर ली। अनेक इमारतें बनवा कर उसने माण्डू के सौन्दर्य में भी वृद्धि की। गुजरात के सुलतान से उसने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं और अन्त में उसे समझौता करने के लिए बाध्य किया। उड़ीसा में जाजनगर पर भी उसने चढ़ाई की उत्तर में जौनपुर और दक्षिण में बहमनी राज्य से भी उसे संघर्ष करना पड़ा। इन संघर्षों को, कई अवसरों पर पराजित होने पर भी, बिना किसी क्षति के उसने पार किया।

१४३५ में, उसकी मृत्यु के बाद, उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। अपने क्रूर व्यवहार से उसने वज़ीर मुहम्मद खिलजी को अपना विरोधी बना लिया।* मुहम्मद खिलजी ने अपने स्वामी को जहर देकर मरवा डाला। इसके बाद तैंतीस वर्ष तक (१४३६-६६ ईसवी) उसने राज किया।

मुहम्मद खिलजी एक कट्टर सुलतान था। वह बहुत ही अच्छा

*फरिश्ता ने मुहम्मद खिलजी के बड़पन और भलमनसाहत की बहुत प्रशंसा की है। ईश्वरी प्रसाद ने उसकी बहादुरी की तुलना स्वेडन के चार्ल्स बारहवें से की है।

योद्धा था। मालवा के मुसलमान शासकों में वह सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसके शासन-काल में राज्य का सबसे अधिक विस्तार हुआ। गुजरात के पड़ोसी सुलतान से अपने पूर्वजों की भाँति, उसे भी संघर्ष करना पड़ा। जौनपुर, दक्खिन और मेवाड़ के राजपूतों से भी उसने संघर्ष किया। उसके उत्तराधिकारी गयास उद्दीन ने शान्ति के साथ १५०१ तक शासन किया। उसके बाद उसके पुत्र नासिर उद्दीन ने अल्पकालिक और अशान्ति-पूर्ण राज्य का उपभोग किया। कहा जाता है कि अपने पिता को ज़हर देने के बाद वह गद्दी पर बैठा था। गृह-युद्ध में पड़ कर वह मारा गया।

इसके बदा महमूद खिलजी (१५११-३१) गद्दी पर बैठा। एक चतुर हिन्द सरदार मेदिनी राय की मदद से उसने अपनी स्थिति दृढ़ बना ली। किन्तु मेदनीराय की सेना ने, जो मुस्लिम सरदारों के उपद्रवों का दमन करने के लिए बुलाई गई थी, अति महत्व ग्रहण कर लिया और महमूद को, मेदिनीराय को बहिष्कृत करने के लिए, गुजरात से सुलतान की सहायता लेनी पडी। फिर मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह के साथ युद्ध में उसे मुँह की खानी पड़ी। गुजरात के उत्तराधिकार के मामले में उसने हस्तक्षेप किया, फलस्वरूप वहाँ के सफल सुलतान बहादुरशाह ने उसके विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इस संघर्ष में बहादुर शाह ने मान्डू पर अधिकार कर लिया, मालवा को अपने राज्य में मिला लिया और महमूद को मय उसके परिवार के गिरफ्तार कर चम्पानीर के दुर्ग में निर्वासित कर दिया (१५३१ ईसवी)

इस प्रकार मालवा गुजरात राज्य का एक अंग हो गया। इसके कुछ वर्ष बाद हुमायूं ने जब गुजरात पर आक्रमण किया तो उसने मालवा पर भी विजय प्राप्त कर ली (१५३५)। बहादुर शाह मान्डू से बहिष्कृत कर दिया गया। इसके बाद ही, अगले वर्ष, यहाँ के मुगल शासक ने अपने को स्वतंत्र घोषित करने का प्रयत्न किया।

जब दिल्ली की सल्तनत शेर खां सूर के हाथों में चली गई तो उसने विद्रोही तत्वों का दमन कर देश को दो भागों में बाँट दिया और इन भागों का शासन अपने दो विश्वासपात्र नायकों को सौंप दिया। शुजा खाँ, माण्डू का शासक, १५५५ तक अपनी मृत्यु के समय तक प्रायः स्वतंत्र रूप से शासन करता रहा। इसके बाद उसके पुत्र

बाज़ बहादुर ने शासन की बागडोर सँभाली।* १५६१ में अकबर के सेनापतियों (उसके रखेल भाई आदम खाँ और पीरमुहम्मद) ने क्रूरता के साथ मालवा की भूमि को तहस-नहस कर दिया। इसके बाद मालवा की स्थिति मुगल सल्तनत के एक सूबे की रह गई और राजपूत रजवाड़ों पर अंकुश रखने के लिए इसका सल्तनत में रखना ज़रूरी हो गया।

खानदेश

नर्मदा के दक्षिण में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने वाले राज्यों में खानदेश का नम्बर दूसरा था। ताप्ती की घाटी से लेकर पूर्व में यह बरार तक फैला हुआ था। यह दक्षिण मालवा से संलग्न है। हैहय तथा अनूपदेश का प्राचीन प्रदेश यही है। इसकी प्राचीन राजधानी नर्मदा के तट पर स्थित महिष्मति या महेश्वर थी। फीरोज़ तुगलक ने अपने एक भतीजी अनुयायी मलिकराज फारुका को यह सूबा प्रदान कर दिया था। मलिक राज ने, १३९९ में अपनी मृत्यु से पहले, स्वतंत्र सत्ता कायम कर ली। उसके पुत्र नासिर खाँ ने राज्य में बहुत वृद्धि की और असीरगढ़ के दृढ़ पहाड़ी दुर्ग पर, जो एक हिन्दू अहीर राजा के अधिकार में था, आधिपत्य कर लिया। ताप्ती के तट पर बुरहान पुर बसाया। यहीं उसने अपनी राजधानी स्थापित की। बहमनी और गुजरात के सुलतानों से अपने संघर्ष में वह सफलतापूर्वक प्रकट हुआ और इस प्रकार, अपने उत्तराधिकारियों के लिए, वह एक भरा-पूरा राज्य छोड़ गया।

आदिलखाँ द्वितीय (१४५७-१५०३) ने गुजरात के जुवे को उतार फेंकने के लिए घोर संघर्ष किया। १५१० में राज्य अराजकता का शिकार हो गया। गुजरात के महमूद बिगारा के सशक्त हाथों ने इसे अराजकता के भंवर से उबारा। इसके बाद "गुजरात के सुलतानों द्वारा संरक्षित और उनकी मित्रता की छत्रछाया में फारु-

---

*बाज बहादुर सुन्दर और प्रतिभासम्पन्न, सारंगपुर की राजकुमारी रूपमती का सच्चा प्रेमी था। इनकी प्रेम-कथा जन-गीत और काव्य-का विषयबन चुकी है। आदम खाँ भी रूपमतीपर अधिकार करना चाहता था। किन्तु रूपमती ने उसके हाथ में पड़ने से ज़हर खाकर मर जाना अधिक उपयुक्त समझा और उसने आत्म हत्या कर ली। बाज़ बहादुर प्रतिभासम्पन्न संगीतज्ञ और कवि था।

की सुलतान पड़ सी राज्यों से गुजरात के सभी संघर्षों में हाथ बटाते रहे।"

१५७२ में राजा अली ने अकबर के पुत्र मुराद का साथ दिया जो उस समय अहमदनगर पर आक्रमण कर रहा था। १५९७ में उसका पुत्र बहादुर गद्दी पर बैठा। बहादुर ने मूर्खतापूर्वक मुगलों से युद्ध की घोषणा कर दी और खुद असीरगढ़ के दुर्ग में छुप कर बैठ गया। काफी लम्बे घेरे के बाद दुर्ग पर मुगलों ने आधिपत्य कर लिया। असीरगढ़ के पतन के साथ-साथ खानदेश की स्वतंत्रता का भी अन्त हो गया और दखिन में मुगलों के विस्तार की सीमा को चिन्हित करने लगा (१५९९-१६०० ईसवी)।

सातवाँ परिच्छेद

दिल्ली की सल्तनत के काल (१२०६-१३२६ ईसवी) में भारत की स्थिति

१—शासन-व्यवस्था

मुस्लिम शासन हिन्दुस्तान के अधिकतर भाग में स्थापित हो चुका था। इससे भारत के सांस्कृतिक जीवन में नयी निर्माणात्मक शक्तियों का उदय हुआ और वह बुनियादी कार्य पूर्ण हुआ जिसकी नींव पर अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी शानदार इमारत खड़ी की। यह काल जिसकी सीमा सोलहवीं शती के मध्य तक पहुँचती है "अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस काल का अध्ययन करके हम मुगलों की भारतीय समाज को देन का सही-सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यह मूल्यांकन हमें आज के सामाजिक विकास को समझने में भी सहायता देगा।" बारीकी के साथ अध्ययन करने वाले एक विद्वान के अनुसार "भारतीय संस्कृति की असम्पन्नता (असमर्थता) का कारण परिवर्तन की इच्छा का अभाव नहीं, वरन् प्रौढ़ता की दिशा में उसका अधिक विकसित हो जाना है। इसी दृष्टि से इसका अध्ययन करना लाभदायक होगा।*"

"भारतीय संस्कृति के विकास की शक्तियाँ यहाँ की कृषिप्रधान सभ्यता में निहित थीं। कृषिप्रधान समाज में जितना अधिक और जितनी तेज़ी से सांस्कृतिक विकास हो सकता है, उतना ही यहाँ भी हुआ। साथ ही राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य दूसरे कारणों को भी हमें देखना होगा।*" तभी हम भारतीय संस्कृति के विकास का सम्यक परिचय प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ और राजपूत-सम्बंधी परिच्छेद में हम इन सब कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

---

* देखिए के. मुहम्मद अशरफ लिखित "लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ दि पीपुल आफ हिन्दुस्तान (१२००-१५५० ईसवी)—'जे० ए० एस० बी' खंड १, १९३५, पृष्ठ १०८।

सातवाँ परिच्छेद

दिल्ली के सुलतानों की शासन-प्रणाली पर अभी तक इतिहासकारों ने विशेषरूप से ध्यान नहीं दिया है। फिर भी समसामयिक इतिहासकारों—इतिवृत्तलेखकों—ने मुगलों की शासन-नीति और उनकी प्रबंध-व्यवस्था का सविस्तर वर्णन किया है। उनके ग्रंथों से हमें कुछ सामग्री मिल सकती है। (दिल्ली के सम्राट्-सुलतानो तथा सूबों के मुस्लिम शासको जो चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में स्वतंत्र सुलतान बन गए, स्वयं स्वतंत्र और पूर्ण सत्ताधारी थे। उन्होंने अपने नाम के सिक्के ढलवाए थे और खतबे उन्हीं के नाम से पढ़े जाते थे—केवल कुछ अपवादों को छोड़ कर—जैसे अलतमश, मुहम्मद बिन तुगलक और फीरोज़ तुगलक जिन्होंने, अपने विरुदों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए खलीफा की मदद का सहारा लिया था। कितने ही सुलतान अपेक्षाकृत निम्न और अज्ञात वंशों से आए थे। उनकी सत्ता और उनका प्रभाव उनकी तलवार और शक्ति पर आधारित था। सिंहासन होड़ और प्रतिद्वन्द्विता की वस्तु बन गया था। हथेली पर अपना सिर रख कर चलने वाला प्रत्येक व्यक्ति सिंहासन पर बैठने का साहस कर सकता था। सफलता मिली तो सुलतान बन गए, नहीं तो जान से गए। इस प्रकार सिंहासन किसी एक राजवंश की बपौती नहीं रह गया था। सैनिक क्रान्तियाँ और सुलतानों की अदला-बदली की घटनाओं के बाहुल्य का यही कारण था। ऐसी स्थिति में, स्पष्ट है कि कमज़ोर व्यक्ति अधिक दिनों तक सिंहासन पर नहीं बैठा रह सकता था। फारस के पुराने सम्राटों की तरह ये सुलतान दैवी श्रेष्ठता का दावा करते थे—अपने निजी व्यक्तित्व के लिए न सही तो कम-से-कम अपने पद के लिए तो करते ही थे। कानून और सिद्धान्त की दृष्टि से वे निरंकुश थे—"सभी कानूनी बँधनों से ऊपर, सभी प्रतिबन्धों से ऊपर, अपनी इच्छा के सिवा और किसी को न मानने वाले।"

मुस्लिम राजतंत्र

सुलतान की सत्ता और अधिकार सैनिक वर्ग पर आधारित था। शरियत के अनुसार राजतंत्र कानून से परे था। भारत में इस राजतंत्र के प्रयोग ने विचित्र परिस्थितियों को जन्म दिया। सब से

पहली और सबसे बड़ी बात जो हुई वह यह कि कानून-सम्मत, विधि-विधान से जायज़, राजा का महत्व जाता रहा। जो भी एक समय विशेष में सिंहासन का अधिकारी होता था, वह अपने विरोधियों के विरुद्ध उन सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकता था जो कि एक निर्वाचित शासक को अपने राज्य के विद्रोही तत्वों का दमन करने के लिए प्राप्त होती है। यह अधिकार उसे शरियत से मिलता था। और जब विद्रोही सफल हो जाता था तो वह भी, शरियत के अनुसार, उन्हीं सब शक्तियों का अपने विरोधियों के विरुद्ध प्रयोग कर सकता था। 'सफलता' ही एक मात्र कसौटी थी। सिंहासन सम्बंधी उत्तराधिकार के कोई नियम नहीं थे, कोई विधान नहीं था। उत्तराधिकार की परम्परा—नियमबद्धता—विधान के लिए (शरियत के मुताबिक) अपरिचित थी। उत्तराधिकार की अनिश्चित्तता और सुलतानों का अपनी इच्छा के अनुसार एक पुत्र के विरुद्ध दूसरे पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाने की कामना ने उत्तराधिकार-सम्बंधी संघर्षों की शृङ्खला को जन्म दिया। संघर्षों की इसी शृङ्खला ने ऐसे सफल विद्रोहियों की परम्परा को जन्म दिया जो समूचे-के-समूचे राजवंश का नाश कर खुद सिंहासन का मालिक बन बैठते थे।

सुलतान की निरंकुश शक्ति

सुलतान बनना खतरों से घिरे रहना था। सुलतान उसी वक्त तक सुलतान रहता था जब तक कि सफलता उसका साथ देती थी। सन्देह और अविश्वास से घिरे वातावरण में उसका जीवन बीतता था और उसके सिर पर सदा किसी न किसी गुप्त या प्रच्छन्न विद्रोह का भय सवार रहता था। यह प्रच्छन्न विद्रोह या विश्वासघाती उसके अमीरों या भाइयों में से कोई भी एक—या एक साथ कई—हो सकते थे और उसे हमेशा सतर्क रहना पड़ता था। इस प्रकार उसकी अपनी परिस्थिति ही उसे निरंकुश और स्वेच्छाचारी बनने के लिए बाध्य करती थी और अपने शत्रुओं का दमन करने के लिए संगत-असंगत की चिन्ता किए बिना अपनी शक्ति का वह प्रयोग करता था। किन्तु शक्ति के इस निरंकुश प्रयोग के पीछे प्रजा का संगठन भी होता था। कारण कि प्रजा

राजा को आन्तरिक शान्ति का रक्षक समझती और मानती थी। वह जानती थी कि राजा बाहरी आक्रमणों और आंतरिक अराजकता पर अंकुश रखता है। वह जितना शक्तिशाली होगा, उसके हाथ जितने मज़बूत होंगे, उतना ही वह शान्ति रख सकेगा। राजा का सबसे बड़ा गुण था उसकी शक्ति और सबसे बड़ा—क्षमा न किया जाने वाला और घातक—अपराध था उसकी कमज़ोरी। कमज़ोर राजाओं को ठुकरा कर सिंहासन से गिराने में ज़रा भी विलम्ब न लगती थी।

प्रजा स्वभावतः शक्तिशाली और सुव्यवस्थित राज्य की भक्त होती है। हिन्दुओं की धार्मिक और राजनीतिक परम्परा ने इस भक्ति और श्रद्धा को गहरा बनाने में मदद दी है। फलतः सभी राजनीतिक मामलों में सम्राट्-सुलतान की इच्छा सर्वोपरि होती थी। वह न शरियत की चिन्ता करता था, न देश को राजनीतिक परम्परा की। उसकी शक्ति निरंकुश तथा असीम थी। इसका प्रयोग वह अपनी तथा अपनी प्रजा की भलाई के लिए करे यह आशा उससे की जाती थी।

इस दृष्टि से सुलतान की स्थिति इसलाम के खलीफा की जनतांत्रिक स्थिति से भिन्न थी। हिन्दू राजाओं के सीमित शासन-अधिकारों से भी वह भिन्न थी। शरियत के बन्धन उस पर लागू नहीं होते थे। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक जैसे शक्तिशाली सुलतानों ने काज़ी और मुल्लाओं के निर्णयों की जरा भी परवाह नहीं की। उनका सल्तनत धर्म के बन्धनों के परे, भौतिक थी। सुलतान अपने निजी धर्म से शासक के नाते अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों को अलग रखते थे। अधिकांश जनता की जाति और धर्म सर्वथा भिन्न थे। भौतिक शासन के सिद्धान्तों का प्रति-पादन अलाउद्दीन के उन शब्दों में मिल जाता है जो उसने, बरनी के अनुसार, बयाना के काज़ी से कहे थे। अलाउद्दीन ने ही सबसे पहले इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। मुहम्मद बिन तुगलक ने इन सिद्धान्तों को और अधिक विकसित किया। मुल्ला उससे इतने नाराज़ हो गए थे कि उसकी प्रत्येक योजना को विफल करने का प्रयत्न कर उन्होंने उसकी एक न चलने दी।

सैनिक वर्ग सल्तनत का प्रमुख आधार होता था और अधिकांश

सैनिकों को धर्मांध मुल्ला लोग हिन्दुओं को सताने तथा उन पर अत्याचार करने के लिए भड़काते रहते थे। इस कार्य में उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिल जाती थी। राज्य के अधिकांश अधिकारी और काज़ी (वकील न्यायाधीश आदि) उलेमाओं में से ही आते थे। फीरोज़ तुगलक और सिकन्दर लोदी ऐसे कई सुलतान ऐसे हुए जो सच्चा मुसलमान उसी को मानते थे जो बुतपरस्ती का नाश कर सच्चे मजहब के प्रसार में सहायक हो। प्रायः सभी सुलतानों ने, किसी न किसी रूप में, इसलाम की प्रथाओं का पालन किया क्योंकि इसलाम ही था जो इस, विजेता जाति को, एक सूत्र में बाँधे हुए था और बाँधे रख सकता था। अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली सुलतान के लिए भी उन मुल्लाओं के असर को खत्म करना अत्यन्त कठिन था जो शरियत बद्ध राज का ही समर्थन करते थे और उसे धर्म-परिवर्तन तथा कट्टरपन का अस्त्र बनाना चाहते थे। उस काल में जब हिन्दुओं के प्रभाव और प्रतिरोध-शक्ति प्रबल थी, मुल्लाओं को खुल कर खेलने का अवसर काफी मिला। इस काल में सुलतान जहाँगीरी और जहाँदारी विजय और संगठन के कर्त्तव्यों तक अपने को सीमित रखते थे। अवि-जित प्रदेशों को जीतने की उनमें प्रबल आकांक्षा थी—यहाँ तक कि दक्खिन की विजय की जरूरत सलतनत के एक विभाग-विशेष का ही अंग, बन गई। राज्य-विस्तार की इस आकांक्षा की कोई सीमा नहीं थी। दूरस्थित प्रदेशों की विजय के लिए आक्रमण की लम्बी-लम्बी योजनाओं के नतीजे भी बहुव्यापी हुए। सलतनत इतनी बड़ी हो गई कि उसे सभांलना कठिन हो गया—अपने ही बोझ के नीचे वह दबने लगी। बलबन जैसा सुव्यवस्थित और व्यवहार कुशल सुलतान भी विजय की आकांक्षा के प्रबल मोह से अपने को मुक्त नहीं रख सका।

सुलतानीशासन के तत्व

अनेक विरोधी तत्वों से मिल कर सल्तनत बनी थी * सुलतान और उसके दरबार के अमीर-उमरा फारस के शाही वातावरण में रंगे हुए थे। उनकी शान शौकत ने प्रजा को मोहित कर लिया था।

*एम० हबीब लिखित "दि एम्पायर आफ दिल्ली इन दि मिडिल एजेज़," हिन्दुस्तान रिव्यू (अप्रेल, १९२४) में पृष्ठ २८५ पर प्रकाशित लेख।

सैन्यसंगठन मंगोल और तुर्की जातियों की प्रणाली पर हुआ था। इन सब के नीचे, बाहरी हलचलों से प्रायः शान्त, गाँव के जीवन और अपनी वर्ण-व्यवस्था से घिरा हुआ कूप मण्डूक-सा बना हिन्दू समाज था। भारतीय ग्रामों का एक अपना अलग जीवन था। इस जीवन के अकेलेपन तथा उसके असंलग्न रूप ने उसे कभी भी एक राजनीतिक शक्ति नहीं बनने दिया। इस दृष्टि में वह सदा पिछड़ा रहा। कभी-भी रक्षा के लिए या किसी असाधारण अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने को छोड़ कर भारत के गाँवों ने केन्द्रीय सरकार को परेशान नहीं किया।

सुलतान और उनकी हिन्दू प्रजा

सुलतान और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच धर्म की एकता नहीं थी, वरन् दोनों के बीच केवल राजा और प्रजा का सम्बन्ध था। हिन्दू नहीं चाहते थे कि उनके धार्मिक मामले में कोई हस्तक्षेप हो और इस काल के अधिकांश भाग में, ऐसा ही हुआ भी। सुलतान साधारणतया उदारता की नीति बरतते रहे * इसमें सन्देह नहीं कि जब-तब दमन, अत्याचार और मन्दिरों के विनाश की घटनाएँ भी होती रहती थीं। उस समय जब कि लड़ाकू जनता के सशस्त्र उभार को पूरी तरह से अपने वश में रखने का सवाल सामने आता था ऐसी घटनाओं का होना अनिवार्य था। किन्तु इन घटनाओं की महमूद गज़नी के आक्रमण और तज्जन्य विनाश से तुलना नहीं की जा सकती। महमूद गज़नी और अलाउद्दीन तथा फीरोज़ तुगलक जैसे सुलतानों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जिस प्रजा के सहारे उन्हें टिकना था, जो प्रजा उनकी आय का आधार थी, उसे वे सदा के लिए शत्रु बना कर नहीं रख सकते थे। "उनके लिए साम्प्रदायिक संघर्ष का अर्थ था अनिवार्य विनाश।" सेना और राज के शासन-कार्य में कितने ही हिन्दुओं को उन्होंने नियुक्त किया था। कितने ही धर्म परिवर्तित हिन्दू ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए, कुछ ने तो सिंहासन तक पर अधिकार कर लिया। यद्यपि हिन्दू सशस्त्र और लड़ाकू थे पर विभिन्न जातियों में वे विभा-

---

* प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद तथा दूसरे इतिहासकारों का कहना है कि प्रारम्भिक मध्य युग में उदारता नियम नहीं, अपवाद थी।

जित थे। हिन्दुओं के अगुआ राजपूत तक असंयुक्त और आपसी संघर्षों में रहते थे। आन्तरिक व्यवस्था या बाहरी आक्रमणों से रक्षा के लिए उनका एक होना कठिन था। ऐसी स्थिति में अल्प-संख्यक मुसलमानों की स्थिति सब से अधिक दृढ़ थी और सहज ही वे शासक बन गए।

सुलतान और राज के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। प्रजा की विभिन्न श्रेणियों और वर्गों के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को सुलतान काफी हद तक प्रभावित करता था। जो रूप वह चाहता था, समाज को दे सकता था। प्रत्येक सुलतान चाहता था कि उसके महलों की ओर प्रजा का ध्यान आकृष्ट हो और वे उसकी यादगार बन कर रह जाएँ। बाद के प्राय: सभी सुलतानों और बादशाहों ने नये-नये राजनगरों का निर्माण किया। इन राजनगरों में सुन्दर-सुन्दर महल होते थे; बाजार, बाग, मस्जिदें और चौहद्दी होती थी। दिल्ली अनेक नगरों और किलों से मिल कर बनी थी। हरम बहुत बड़े और विस्तृत होते थे। राजमाता और सुलतान की प्रमुख बेगम का बहुत ऊँचा, श्रेष्ठ, स्थान होता था। शाही घर के लिए गुलाम विभिन्न जातियों से भर्ती किए जाते थे, किन्तु वे सब एक स्वामी के सूत्र से बंधे होते थे। राज के अन्य अधिकारियों और अमीरों के मुकाबिले में वे अधिक स्वामिभक्त और फरमाबरदार होते थे। अपनी स्वामि भक्ति और सेवाओं के बल पर वे कितना आगे बढ़ सके, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। बहुधा शासन-क्षेत्र तक को वे प्रभावित करते थे। दरबार में एक वर्ग सुलतान के परिचायकों का भी होता था जो, अप्रत्यक्ष रूप में, सुलतान के निर्णयों और राज की नीति को प्रभावित करता था। बहुधा ये परिचायक खुशामदी होने के कारण बहुत नीचे भी गिर जाते थे।

शाही अंग-रक्षक किसी एक बड़े अमीर के नेतृत्व में रहते थे। उनका एक विस्तृत संगठन था। शाही घराने से सम्बंधित उच्च अधिकारियों का अपना एक दल होता था जिनमें शाही भण्डारे के निरीक्षक आदि होते थे। सुलतान की जागीर की व्यवस्था के लिए अलग से अधिकारी नियुक्त थे। ये सब मिलकर सुलतान की प्रतिष्ठा में वृद्धि करने का साधन बनते थे।

दकन में मुसलमानों की लूट मार

दक्खिन में दिल्ली के सुलतानों ने महमूद गजनी के पदचिन्हों का अनुसरण किया। जो उनकी प्रजा नहीं थे, ऐसे हिन्दुओं के प्रति किसी जिम्मेदारी का वे अनुभव नहीं करते थे। दक्खिन में मुसलमान सुलतानों और सैनिकों की कट्टरता स्वभावतः हिंसा रूप में प्रकट हुई। महमूद गज़नी की तरह दक्खिन पर आक्रमण करने का उद्देश्य लोलुपता पूर्ति और स्वर्ण के जखीरे को हथियाना था। जो कसर रह गई, उसे उनकी धर्मान्धता ने पूरा कर दिया। *

सुलतान—शासन का प्रमुख आधार

अनेक विभागों की सहायता से सल्तनत का शासन सुलतान करता था। वही अपनी प्रजा का नियामक और विधायक था। सर्वोच्च न्यायाधीश भी वही था। सेना उसी के हाथ में थी और सभी सैनिक कार्यवाहियों का वह स्वयं ही नियंत्रण या नेतृत्व करता था। सुव्यवस्थित गुप्तचर विभाग और नौकरशाही के द्वारा सभी मामलों का वह नियंत्रण करता था। सूबे के शासकों, बड़े-बड़े अमीरों और माफीदारों को, अपने गुप्तचरों की सहायता से, वह अपने वश में रखता था। मुद्रा-नीति और बाजार का नियंत्रण भी उसके ही हाथ में रहता था। प्रजा की शिकायतों को वह खुद सुनता था और इसकी पूरी सुविधा उसने दे रखी थी। विद्वानों का वह आदर करता था और अकाल तथा गरीबी को दूर करने के लिए सहायता-कार्यों का आयोजन करता था। प्रजा के जीवन में उसका जितना हाथ था, उतना "शायद ही आज की किसी सरकार का हो।" वह चाहता था कि उसकी प्रजा सही रास्ते पर चले और इसके लिए वह चेतावनी और सज़ा का बहुधा प्रयोग करता था।"

शाही कौन्सिल और दरबार

सुलतान का दरबार शान्दार होता था। शाही घराने की व्यवस्था भी शान्दार और खर्चीली होती थी। गुलामों की संख्या काफी होती थी और सुव्यवस्थित योजना के अनुसार शाही घराने का

* देखिए हिन्दुस्तान रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २८९ पर प्रकाशित एम० हबीब का लेख।

प्रबंध किया जाता था। शाही कौन्सिल में उच्चतम अधिकारी होते थे। वे शाह के विश्वसनीय सलाहकार होते थे। प्रत्येक महत्वपूर्ण मामिले में उनसे सलाह ली जाती थी और वे निर्भीकतापूर्वक अपनी राय देते थे। उनके समर्थन से सुलतान के हाथ बहुत मज़बूत हो जाते थे। शाही दरबार का इस कौन्सिल में अलग अस्तित्व था। उसका सार्वजनिक महत्व अधिक था। दरबार के अपने नियम, कायदे और सभ्यता होती थी। अनेक सार्वजनिक महत्व के अवसरों पर दरबार लगता था जिसमें स्वामिभक्ति की शपथ ली जाती थी, नज़राने भेंट किये जाते थे और दान में भारी रकमें दी जाती थीं। दरबार के कार्यक्रम का निर्देश उच्च अधिकारी करते थे जिनमें बरबक 'का स्थान प्रमुख होता था,। बरबक को सुलतान की जिह्वा कहा जाता था सुलतान तक सभी की पहुँच थी। सुलतान उनकी प्रार्थना सुन कर अपना अन्तिम निर्णय देता था। सूब के शासकों, राजदूतों और अन्य बड़े व्यक्तियों से सुलतान मिलता था। लेकिन दरबार का एक रूप और था जो सार्वजनिक महत्व के अवसरों पर होने वाले दरबारों से भिन्न होता था। इसमें दरबार के सदस्य ही भाग लेत थे और सुलतान उनकी अध्यक्षता ग्रहण करता था।

सुलतान क चार प्रमुख वजीर होते थे—दीवानी वज़ारत, दीवाने अर्ज (युद्ध), दीवाने इन्शा (स्थानिक और प्रान्तीय शासन सम्बंधी) और दीवाने रियासत (बाज़ार सम्बंधी)। न्याय के विभाग, का (जिसका अध्यक्ष सदरुस्सद्र होता था,) जल सेना और कृषि विभागों का दर्जा इन से नीचा होता था।

राज के विभाग

वज़ीर दीवानी के कामों की देख-भाल करता था। करों की वसूली, कर उगाहने वाले आमिलों का नियंत्रण करता था। पुराने चौधरियों और मुकद्दमों की जगह अब, अलाउद्दीन के शासन में, आमिलों ने ले ली थी। पैदावार का एक भाग राज-कर के रूप में नियुक्त कर दिया गया था और इसका पूरा हिसाब रखा जाता था।

युद्ध का वजीर कमाण्डर-इन चीफ से अलग होता था। सैनिकों की भर्ती और सामन्ती अमीरों की घुड़-सेना का सामान वहमुआयना करता था। कमसरियट की व्यवस्था उस पर निर्भर करती थी,

युद्ध में प्राप्त लूट के माल की वह देख-भाल करता था और सैनिकों को मिली जागीर और उसकी आय आदि का नियंत्रण करता था।

तीसरा वज़ीर प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन के सम्पर्क और आदान-प्रदान की देख-भाल करता था। प्रान्तीय शासकों को वही पत्र आदि लिखवाता था। चौथे और अन्तिम वज़ीर के हाथ में बाज़ार का नियंत्रण रहता था। वह मुनाफ़ाखोरी पर रोक लगाता था, लाइसेंस जारी करता था, चुंगी वसूल करता था और अकाल तथा दूसरी परिस्थितियों की देख-भाल करता था।

प्रत्येक नगर और कस्बे में एक काज़ी होता था। शरियत के अनुसार वह मुसलमानों के आपसी झगड़ों का फैसला करता था। हिन्दू और मुसलमानों के झगड़ों को भी वह निबटाता था। हिन्दू और मुसलमानों के लिए समान दण्ड का विधान था। दंड-कानून अधिकांशतः, मज़हबी आग्रह से मुक्त था। दीवानी के झगड़ों को तय करने के लिए हिन्दुओं की अपनी ग्राम-पंचायतें थीं। अन्तिम सुनवाई सुलतान के यहाँ होती थी जो हिन्दू-विधान के सम्बंध में सलाह लेने के लिए ब्राह्मण पंडितों को रखता था।

जलसेना विभाग के अध्यक्ष का काम अधिक नहीं था। न जल-सेना इतनी शक्तिशाली या प्रभावपूर्ण थी कि उसे अधिक महत्व दिया जा सके। फलतः उसका काम, अधिकतर, जल-मार्ग से होने वाले यातायात का नियंत्रण करना होता था। नौकाओं के आवागमन पर भी वह नियंत्रण रखता था।

कृषि-विभाग का काम परती ज़मीन को खेती-योग्य बनाना था। जंगलों को साफ करना, आबपाशी के साधनों को सुधारना और खेतिहारों को खेती के नये तरीकों से अवगत कराना भी उसके कार्य थे।

वज़ीर और नौकरशाही

समय के साथ-साथ विभागों का संचालन जटिल और पेचीदा होता गया। वह उतना सहज नहीं रहा जितना पहले था। अफसरों और मुंशियों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई और उसने अच्छी-खासी नौकरशाही—का रूप धारण कर लिया। अधिक-तर पदाधिकारी सेना के अधिकारी होते थे। सार्वजनिक कार्यों के

बोझ से ये दबे रहते थे। कितने ही पदाधिकारी गुलामों की श्रेणी से नियुक्त किए गए थे। स्थानिक स्वतंत्रता और अलगाव की प्रवृत्ति पर रोक रखने में ये गुलाम पदाधिकारी बहुत कारगर सिद्ध होते थे। अलाउद्दीन के समय, अधिकांश तुर्की गुलाम जो तेरहवीं शती में अफसरों के पदों तक पहुँच गए थे, नष्ट हो गए और उनकी जगह, तेज़ गति से, देशी पदाधिकारियों ने ले ली। भारतीय मुसलमानों और उनके हिन्दू साथियों ने अब ऊपर उठना और पदों को सुशोभित करना शुरू किया।

हाथियों, सोने और चाँदी का जमा करना गैर कानूनी था। केवल सुलतान या वे खास लोग जो सुलतान की अनुमति प्राप्त कर चुके हों, इन्हें रख सकते थे। युद्ध की मशीनरी में हाथियों का महत्वपूर्ण स्थान था और अकाल, अराजकता तथा दूसरे संकटों के समय में सोने-चाँदी के भण्डार से सुलतान अपनी स्थिति को मज़बूत रखता था। भरपूर खज़ाने की प्रथा पुरानी हिन्दू प्रथा थी और प्रजा की दृष्टि में उसने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

सल्तनत के सेवा कार्य

दिल्ली की सल्तनत केन्द्रीय शासन की स्थापना की ओर किया गया पहला वास्तविक प्रयत्न था। मंगोल आक्रमणों के सदा प्रस्तुत खतरे और प्राचीन ग्राम व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण केन्द्रीय शासन की स्थापना अनिवार्य हो गई थी। सुलतानों के निरंकुश शासन ने देश की आवश्यकता की पूर्ति की और वह उपयोगी सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन व्यवस्था का उत्थान, यद्यपि वह मुस्लिम व्यवस्था थी, अमीरों को उत्पातों और बाहरी आक्रमणों से त्रस्त किसानों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। प्रान्तीय मुसलमान राज्यों का संगठन भी दिल्ली के नमूने पर ही हुआ था।

[२]

प्रजा की स्थिति

प्रजा में इसलाम के प्रचार का अनेक प्रचार के प्रलोभनों के साथ-साथ बहुधा ज़ोर-जबर्दस्ती का भी प्रयोग था। * इसके सिवा

---

* पदों का प्रलोभन, पुरस्कार और राजनीतिक प्रतिष्ठा का प्रलोभन, असु-

तलवार के बल पर राजपूतों तथा अन्य ऊँची जातियों को सिर झुकाने के लिए बाध्य किया गया था और उनकी राजनीतिक शक्ति नष्ट कर दी गई थी। किन्तु "भारत की महान आध्यात्मिक परम्परा विचलित न हो सकी।" जितने भी गैर-मुस्लिम थे, सब को अनेक असुविधाओं का शिकार बनना पड़ता था। किन्तु धर्म परिवर्तनों ने कभी व्यवस्थित या नियमित रूप धारण नहीं किया। फीरोज़ तुगलक ने ब्राह्मणों पर जज़िया कर लगा दिया। सिकन्दर ने मन्दिरों के एक सिरे से सामूहिक विनाश का आदेश दिया। ऊँचे पदों पर सदा मुसलमानों की ही नियुक्ति होती थी। इसलिए उन्हें, मुसलमानों को, हिन्दुओं की तरह कभी घुटने नहीं रगड़ने पड़ते थे। भूमि-कर का बोझ भी मुसलमानों पर हलका था और सहज उपायों से वे अपने धन की अभीष्ठवृद्धि कर सकते थे। इन सब सहज सुविधाओं का दुष्परिणाम भी हुआ। वह यह कि उनमें पौरुष और क्रियाशीलता का अभाव होने लगा। तेज़ी के साथ वे आलसी और शराबी बनने लगे। अगर उत्तर की ओर से आने-वाले नये लोगों से उन्हें स्फूर्ति न मिलती, उनके जीवन में नये रक्त का संचार न होता तो वे नष्ट हो जाते। शराब ऐसे दुर्व्यसनों को रोकने के लिए सुलतानों ने कड़े क़ानून जारी किये,—जैसा कि बलबन और अलाउद्दीन के आदेश पत्रों से प्रकट है।

मज़हबी श्रेणियों में मुल्ला थे, फकीर थे, सैयद थे, पीर लोग थे और इन सब के उत्तराधिकारी थे। न्याय और धर्म के सभी पद मुल्लाओं के कब्ज़े में थे। ये उलेमा कहलाते थे और राज के संचालन में इन्होंने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया था। सैयद अपने को खलीफा का वंशधर कहते थे और बलबन के समय से भारत में काफी बड़ी संख्या में आकर वे बस गए थे। पीर और शेखों के अन्तर्गत और भी कई मज़हबी दल थे। इनमें से कुछ इतने ऊँचे उठे कि उन्होंने मुल्लाओं को भी पीछे छोड़ दिया और मुसलमानों के रूहानी मार्गदर्शक का स्थान ग्रहण कर लिया।

विधाओं से छुटकारा पाने का प्रलोभन धर्म-परिवर्तन के लिए ज़मीन तैयार करते थे। फिर इस्लाम के सिद्धान्त इतने अनुदार न थे कि हिन्दुओं को अपने में जज़्ब न कर सकें। इस्लाम की इस विशेषता ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अनियमित मिश्रण को आगे बढ़ाने में मदद दी।

कितने ही मुसलमान अमीर, शुरू-शुरू में तुर्की जाति के थे। बाद में अफगान और मंगोलों ने भी अमीरों की श्रेणी में प्रवेश किया। तेरहवीं शती में सल्तनत की प्रमुख टेक तुर्की अमीर थे। बलवन ने उनके प्रभाव और संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया। अलाउद्दीन ने इन विदेशी अमीरों के विश्वासघात का और भी अनुभव किया, किन्तु मुहम्मद बिन तुगलक ने जान-बूझ कर उन विदेशी अमीरों को बढ़ावा दिया जो अपनी धनलिप्सा से प्रेरित होकर यहाँ आए थे। फीरोज़ तुगलक ने सबसे पहले देशी वज़ीर, खान-ए-जहाँ को नियुक्त किया। शासक वर्ग और प्रमुख हिन्दुओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने की भावना का यह सूचक है।

दबे हुए हिन्दू

एक तो करों के बोझ से दबे होने से दूसरे भारी कर-व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के लिए धनार्जन प्रायः वर्जित हो गया था। ऊँचे पद उन्हें नहीं दिये जाते थे। उनका जीवन-मान कम हो गया था। विजित जातिके होने के कारण अनेक प्रकार के अपमान उन्हें सहने पड़ते थे। नतीजा इसका यह हुआ कि "उनकी प्रतिभा बहुत कुछ कुण्ठित हो गई और वे अपने को उभार कर नहीं रख सके।"* किन्तु, इस कठोर विदेशी शासन के काल में भी, हिन्दू-प्रतिभा का सर्वथा लोप नहीं हुआ और वह रामानन्द, कबीर, नानक और चैतन्य जैसे सन्तों और सुधारकों के रूप में प्रकट हुई। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि मुस्लिम शासन के शिकंजे में दब कर हिन्दू-बुद्धि और प्रतिभा सर्वथा निर्वीर्य हो गई थी।

समाज की स्थिति

विभिन्न देशों से गुलामों का आयात किया जाता था। उनका प्रचार यहाँ तक बढ़ा कि कुलीन और सरदार हिन्दू भी अपने घरेलू तथा सैनिक कार्यों के लिए उन्हें रखने लगे। समाज में गुलाम-प्रथा ने सहज रूप धारण कर लिया था, किन्तु गुलामों के साथ आमतौर

---

* देखिए ईश्वरीप्रसाद पृष्ठ ५१२, जे० एन० सरकार—हिस्ट्री आफ औरंगजेब, खण्ड ३, पृष्ठ २१६-७। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विस्तृत प्रकाश पड़ना चाहिए।

से अच्छा व्यवहार किया जाता था और कभी-कभी तो वे प्रतिष्ठित तथा काफी ऊँचे पद तक पहुँच जाते थे—जैसे मलिक कफूर, मकबूल खाँ और खान-ए-जहाँ आदि। जैसा कि पहले बता चुके हैं, काफी लम्बे अर्से तक नौकरशाही का वे ही प्रमुख आधार थे। किन्तु गुलाम-प्रथा के सभी चिन्ह शीघ्र ही समाज में दिखाई पड़ने लगे। निम्नस्तर के लोगों में अंधविश्वास और अज्ञान का प्रसार व्यापक रूप में बढ़ने लगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता बहुत कुछ सीमित हो गई। प्रतिष्ठित घरानों में लड़कियों का विवाह करना दिन-दिन कठिन होता गया। अमीर खुसरो के काल में ही उन्हें घर में बंद करके रखा जाने लगा। स्वयं खुसरो ने अपनी लड़की को उपदेश दिया कि वह अपने चरखे को कभी न छोड़े और हमेशा अपना मुँह घर की दीवार की ओर और पीठ दरवाज़े की ओर रखे जिससे उसे कोई देख न सके।" संकट काल में स्त्रियों की दुर्गति और सती के दृश्य आए दिन की घटना हो गए।

आर्थिक स्थिति

ग्रामों की स्थिति लगभग वैसी ही थी जैसी कि आज है। ग्राम बाड़े से घिरे रहते थे और आमदोरफ्त के साधन बहुत कठिन और कम थे। समुद्री और किनारे का व्यापार, तेरहवीं शती में, बंगाल और गुजरात में सम्पन्न अवस्था में था। मार्कोपोलो, इब्नबतूता और वस्फ जैसे यात्रियों ने उसका वर्णन किया है। इब्नबतूता ने बंगाल की सम्पन्नता और उपजाऊ धरती की प्रशंसा की है। दोआब की उपजाऊ भूमि की ख्याति का भी उसने उल्लेख किया है। अपने करविधान द्वारा अलाउद्दीन ने वस्तुओं के दामों को बढ़ने नहीं दिया था। इतिहासकार आफिफ के कथनानुसार फीरोज़ के काल में भी वस्तुएँ सस्ती थीं। अकाल और महामारी का आक्रमण तब भी होता था, लेकिन शासक सतर्क रहते थे और अकाल आदि पड़ने पर अपनी सहायता-योजना को काम में लाते थे। चौदहवीं शती के अन्तकाल से आर्थिक संकट ने उत्तरोत्तर उग्र और दुःखद रूप धारण किया। तैमूर के आक्रमण ने स्थिति को और भी विकट बना दिया और अराजकता के चिन्ह अधिकाधिक प्रकट होने लगे। किन्तु

बंगाल की स्थिति अब भी उतनी संकटयुक्त थी।* पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में व्यापार की स्थिति में फिर जान पड़नी शुरू हो गई थी।

निम्न श्रेणी के अधिकांश मुसलमानों की भी वही दशा थी जो कि हिन्दू जनता की। धर्म-परिवर्तन के बाद भी औसत हिन्दू का जीवन पहले जैसे वातावरण में ही बीतता था। वर्गगत भेद पूर्ववत बने रहते थे और वह पूर्ववत ही अपने-आप को अकेला अनुभव करता था। मुसलमान जाति की भिन्न श्रेणियाँ भिन्न मोहल्लों में रहती थीं। जो मुसलमान बाहर से आए थे वे अपने-आप को भारतीय मुसलमानों से श्रेष्ठतर समझते थे।

हिन्दू जनसाधारण की वैसी दशा थी जैसी कि हम आज देखते हैं। वे वर्ण और उपवर्णों में विभाजित और जाति-पांति के बंधनों में बंधे हुए थे। मुसलमानों के सम्पर्क से अनेक प्राचीन सामाजिक और कानूनी कार्य वर्ण-व्यवस्था के क्षेत्र से बाहर हो गये। क्षत्रियों की शक्ति और प्रतिष्ठा कम होने के कारण ब्राह्मणों का प्रभाव अपने-आप बढ़ गया। किन्तु कई कारणों से वर्ण-व्यवस्था का शिकंजा ढीला पड़ा। निम्नश्रेणी के लोग प्राचीन रूढ़ियों से अपेक्षाकृत मुक्त थे, फलतः अपनी स्थिति को सुधारने में उन्होंने उल्लेखनीय भौतिक प्रगति की।

हिन्दू मुसलमानों में मिलाप

चौदहवीं शती से हिन्दू और मुसलमानों के बीच, हिन्दू और मुस्लिम धर्म के बीच आंशिक मेल कराने की ओर, ध्यान दिया जाने लगा—इसके स्पष्ट चिन्ह दिखाई देने लगे। हिन्दुत्व की मोटी-मोटी बातों को इसलाम ने अपनाना शुरू कर दिया। मुसलमानों के हरम में दाखिल हिन्दू स्त्रियों का और जिन हिन्दूओं ने इसलाम ग्रहण कर लिया था उनका मुस्लिम समाज पर प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। शासन कार्य में भी हिन्दुओं को रखा जाने लगा था। इसका भी प्रभाव पड़ा। इमारतों और यादगारों के निर्माण में हिन्दू कलाकारों और कारीगरों को काम में लाया जाता था। उनका

*चीनी राजदूत का दोभाषिया माहुआन १४०६ में बंगाल गया था। उसने बंगाल की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया है (ईश्वरीप्रसाद द्वारा पृष्ठ ५२६ पर उद्धृत)।

प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य था। सूफी सन्तों पर भारतीय चिन्तन का प्रभाव पड़ा था। इन तथा इसी तरह के अन्य कारणों ने दोनों धर्मों के बीच सम्पर्क की ज़मीन तैयार करने में योग दिया। फीरोज़ और सिकन्दर लोदी ऐसे कुछ शासकों ने संस्कृत महाकाव्यों तथा दूसरे ग्रंथों का अनुवाद कराया। ऊँची श्रेणी के हिन्दुओं में से भी कुछ ने फारसी सीखी और उसके साहित्य का अध्ययन किया।

उर्दू का विकास

इसी प्रकार "मुसलमानों और हिन्दुओं के सम्पर्क तथा दैनिक आवश्यकताओं से प्रेरित आदान-प्रदान ने धीरे-धीरे एक समान भाषा उर्दू के विकास में योग दिया। यह भाषा, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, छावनियों की खिचड़ी-भाषा के रूप में प्रकट हुई। इसमें अरबी के शब्द थे, फारसी, तुर्की और पछांही हिन्दी, दिल्ली प्रदेश की स्थानिक भाषा के शब्द थे। दरबारी कवियों और इतिहास-कारों ने इसके साहित्यिक रूप को निखारा और यह भाषा भारतीय मुसलमानों की राजभाषा बन गई।"*

महान मुसलमान लेखक

इतिहास-लेखन उन दिनों प्रचलित था। उस काल के सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखकों में मिनहाज सिराज, बरनी और शाम्सी सिराज आफिफ के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। बाद के इतिहास-लेखकों ने इनके ग्रंथों से बहुत मदद ली है। तुगलक काल के एक बहुत बड़े अमीर ऐनु-मुल्ल ने अनेक पत्र और खतबे लिखे थे जो शाही खतोकिताबत का नमूना माने जाते थे। देश की तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर उनसे बहुत प्रकाश पड़ता है। जौनपुर अरबी विद्वत्ता और इस्लामिक दर्शन के अध्ययन का सुप्रसिद्ध

*देखिए ईश्वरी प्रसाद, परिच्छेद तेरहवाँ। इसका व्याकरण और बनावट अधिकांशतः हिन्दी किन्तु शब्द अधिकांशतः फारसी के थे। धीरे-धीरे इसका फारसीपन कम होता गया और हिन्दी का रंग उभरता गया। सुलतानों के काल में इसका विकाश हुआ। अमीर खुसरो ने सबसे पहले इसमें रचनाएँ कीं। उसकी फारसी की कृतियों में भी अनेक हिन्दी के शब्द मिलते हैं (वी० ए० स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ २१६)

केन्द्र बन गया था। दिल्ली तथा अन्य जगहों में अमीर खुसरो और बद्र-ए-चाच जैसे कवि और धार्मिक विद्वान फूल-फल रहे थे। इस काल में हिन्दू प्रतिभा भी क्रियाशील थी। न्याय और दर्शन के क्षेत्र में हिन्दुओं ने आकर काम किया। हिन्दुओं की यह साहित्यिक तथा बौद्धिक क्रियाशीलता देश में होने वाले धार्मिक पुनर्जागरण का नतीजा थी। इस काल को हम हिन्दूधर्म के पुनर्जागरण का काल कह सकते हैं। आगे चल कर इस पर विस्तार के साथ हम प्रकाश डालेंगे।

इण्डो मुस्लिम स्थापत्य कला

मुस्लिम शासन का व्यापक प्रभाव देश की कला और स्थापत्य पर भी पड़ा और इसका अच्छा विकास हुआ। यहाँ प्रारम्भिक मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू कारीगरों से काफी काम लिया। विजेताओं के लिए उन्होंने जिन इमारतों और मकबरों का निर्माण किया, उनमें हिन्दू चिन्तन और प्रतीकों की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

देशी स्थापत्य की विशेषताओं का मुसलमानों ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उपयोग किया और इस प्रकार एक ऐसी शैली का उदय हुआ जिसे हम हिन्दू मुस्लिम शैली कह सकते हैं। हिन्दू मन्दिरों का विस्तृत खुला हुआ सहन, और उसके चारों ओर बरामडा—यहाँ की मस्जिदें इसी का परिवर्तित रूप हैं। चौहानों के काल में दिल्ली तथा अजमेर में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण जिस शैली में हुआ, उसी को मुसलमान विजेताओं ने भी कुछ फेर फार के साथ अपना लिया। कुतुबुद्दीन और अल्तमश की मुख्य यादगारों—दिल्ली की कुतुब मस्जिद, अल्तमश का मकबरा और कुतुब मीनार—में हिन्दू तत्वों की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। इनका निर्माण, अधिकांशतः, हिन्दू सामग्री से ही हुआ है। अलाउद्दीन खिलजी के काल के स्थापत्य में उल्लेखनीय परिवर्तन है उसने अरबी कला को अपना आधार बनाया है। दिल्ली के निकट

---

* देखिए पेज लिखित 'ए हिस्टारिकल मेमायर ऑन दि कुतुब, दिल्ली (मेमोयर्स आफ आर्क्यालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया) पृष्ठ ३।

सीरी में अलाउद्दीन का बनवाया हुआ किला और महान् दरवाजा अपनी शान और भेंडापन को दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। गयासउद्दीन द्वारा निर्मित तुगलकाबाद का भारी भरकम किला, उसके पुत्र द्वारा बसाया नगर जहाँपनाह, फीरोज द्वारा निर्मित अनेक मस्जिदें और महलें स्थापत्य कला के क्रमिक विकास का परिचय देते हैं। अलाउद्दीन से लेकर शेरशाह के काल तक की जितनी भी इमारतें हैं, उनके डिज़ाइन की कठोर सादगी पहले की, प्रारम्भिक, विस्तृत अलंकारिकता के सामने बरबस हमारी आखों के सामने उभर कर आती है। बाद में संगमर्मर पर अलंकारिता और पहले की सी स्थापत्यकला ने फिर स्थान ले लिया।* मुस्लिम शासन-काल में दिल्ली ने अपनी निजी छाप लिए शैली को विकसित किया जिसमें हिन्दू कला के प्रवेश को गुंजायश बहुत ही कम थी।

प्रान्तीय राज्यों में स्थापत्य

बड़े-बड़े प्रान्तीय राज्यों में स्थापत्य की शैली का निजी व्यक्तित्व और भी उभर कर प्रकट हुआ। जौनपुर की शर्की इमारतें सारसेनी शैली के प्रवेश द्वारों से सुसज्जित हैं। सम्भवतः उन पर हिन्दू स्थापत्य का अधिक प्रभाव पड़ा है। गुजरात के सुलतानों की स्थापत्य कला जौनपुर की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और विभिन्नता लिए हुए है। अहमदाबाद की मस्जिदों में हिन्दू और जैन डिज़ाइनों की छाप काफी मात्रा में देखी जा सकती है। मन्दिरों की निर्माण-शैली और स्थानिकता का जितना अधिक प्रभाव गुजरात की मुस्लिम इमारतों पर पड़ा है, उतना और कहीं नहीं दिखाई देता। मंडू (मालवा), गौड़ और पन्डुआ (बंगाल) की इमारतें भी स्थापत्य कला का अच्छा नमूना हैं, किन्तु उनकी अपनी कोई निजी विशेषता नहीं हैं सिवा इसके कि गौड़ की इमारतों की मेहराबें नोकदार हैं और उनकी छतों की बनावट विचित्रता लिए है। बंगाल में मुसलमानों ने देशी प्रथा के अनुसार ईंटों की इमारतें बनवाई और हिन्दुओं की अलंकारिक पद्धति का अनुसरण किया। बहमनी सुलतानों ने काफी

---

* देखिए इम्पीरियल गज़ेटियर, खण्ड दो, परिच्छेद ५ में बर्गस का भारतीय स्थापत्य पर लेख; साथ ही कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खण्ड ३, परिच्छेद २३ भी देखिए।

सम्पन्न कला को जन्म दिया—किन्तु एक एक करके, ये सभी आकर्षक शैलियाँ, उन विभिन्न राज्यों की भाँति जिनमें कि इन शैलियों ने जन्म लिया था, महान् मुगल साम्राज्य में लीन हो गई।*

---

* फरगसन के अनुसार (हिस्ट्री आफ इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्कीटैक्चर, पुस्तक ७, परिच्छेद ३) प्रारम्भ में हिन्दू स्थापत्य ने जितना ही मुस्लिम स्थापत्य को प्रभावित किया था, उतना ही बाद में प्रतिक्रियास्वरूप वह 'विशुद्धता' की ओर बढ़ा।

आठवाँ परिच्छेद

बहमनी राज्य

मुहम्मद बिन तुगलक की अपने में ही केन्द्रित शासन-नीति के फलस्वरूप, १३४३ से १३५१ के बीच, सल्तनत में अनेक विद्रोह उठ खड़े हुए। दक्खिन विशेषरूप से असन्तोष का घर था और जितने अधिक विद्रोह यहाँ होते थे उतने सल्तनत के और किसी भाग में नहीं। विद्रोही अंशों पर कड़ी निगाह रखने के लिए तुगलक सुलतान ने १३४६ में निम्नकुल के एक साहसी व्यक्ति अज़ीज़ हिमर को दौलताबाद में अपना सूबेदार नियुक्त कर दिया। लगभग इसी काल में उसने दो अमीरों को इस आदेश के साथ दक्खिन (दौलताबाद) भेजा कि जिन अमीरों की स्वामिभक्ति में सन्देह था, उन्हें गुजरात लाकर उसके सम्मुख उपस्थित किया जाए। अमीरों ने सुलतान-सम्राट् के आदेश का पालन किया, किन्तु आधे रास्ते में ही उन्होंने सलाह करके शाहीरक्षक दस्ते के सैनिकों को मार डाला, तुरत दौलताबाद लौट गए, और वहाँ जाकर ख़ज़ाने को लूटा। फिर दक्खिन की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उनमें से एक इस्माइल मख, जो वृद्ध था, नासिरउद्दीन नाम से दक्खिन का बादशाह बना दिया गया।

मुहम्मद बिन तुगलक ने जब इन सब घटनाओं का समाचार सुना तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने तुरन्त दौलताबाद पर चढ़ाई कर दी और गहरे संघर्ष के बाद विद्रोहियों को पराजित कर दिया। किन्तु इसी बीच गुजरात में उपद्रव उठ खड़े हुए और दौलताबाद के विद्रोह का पूर्णतया दमन करने के लिए वह वहाँ न टिक सका। दमन का शेष कार्य अपने जनरलों को सौंपकर सुलतान ने गुजरात की ओर मुख किया। उसकी अनुपस्थिति में षड्यन्त्र-कारियों ने सारी सेना को परास्त कर दिया। षड्यन्त्रकारियों में हसन कंगू (या गंगू) प्रमुख था। इस्माइल मख ने बुद्धिमानी पूर्वक हसन के लिए अपना राजपद खाली कर दिया था। हलचल और उलट फेर के दिनों में सिंहासन को सँभालने की हसन में

पर्याप्त सामर्थ्य थी। फलतः १३४७ में हसन दौलताबाद के सिंहासन पर बैठा और उसने अलाउद्दीन बहमनशाह का विरुद धारण किया। इसके चार वर्ष बाद तुगलक की मृत्यु हो गई और उसका उत्तराधिकारी फीरोज़शाह अपनी राजधानी के निकट होने वाले विद्रोही उपद्रवों का दमन करने में इतना फँसा रहा कि दक्खिन की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं मिला।

अपने जन्म के समय बहमनी राज्य उत्तर में बरार से दक्षिण में तुङ्गभद्रा तक विस्तृत था, यद्यपि विजय नगर के हिन्दू राजा कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच के दोआवा पर अपना अधिकार जताते थे और उसके लिए बहुधा संघर्ष करने से नहीं चूकते थे। प्रारम्भ में दक्खिन के पश्चिमी तट के छोटे-मोटे राजा बहमनी राज्य के प्रभुत्व में नहीं थे और पूर्वांतट के पूर्वी तैलंगाना पर वा'गल के कन्हैया (या कृष्ण देव नामक) स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। वे अपने को काकातीयों का वंशधर बताते थे।

किसान से राजा

बहमनी राज्य के संस्थापक हसन के प्रारम्भिक जीवन का फरिश्ता ने जो वर्णन किया है, वह बहुत ही रोमांचकारी है। वह उन प्रवासियों में था जो मुहम्मदतुगलक के आदेशानुसार दिल्ली छोड़कर देवगिरि (दौलताबाद) में आ बसे थे। गरीब घर में १२६० में उसका जन्म हुआ था। गंगू नामक दिल्ली के एक ब्राह्मण के यहाँ खेत के मज़दूर के रूप में वह काम करता था। इस मज़दूर की स्थिति से उसने उन्नति की और सौ घोड़ों का नायक नियुक्त कर दिया गया। उसकी महत्वाकांक्षा जाग्रत हुई और उसने, मुसलमानों के आकर्षण-केन्द्र दक्खिन को, अपनी आकांक्षाओं का कार्यक्षेत्र बनाने का निश्चय किया। अपने सपने को सत्य बनाने के लिए उसे अधिक दिनों तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। हसन उन अफसरों में से था जिन्हें मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने दक्खिन के सूबेदार कुतलुग खाँ के साथ रहने के लिए चुना था। देवगिरि में हसन ने जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया और धनी बन गया। साहसी होने के नाते उसे यह अनुभव करने में देर नहीं लगी कि वह उन

विदेशी अमीरों के गुट का साथ देकर अपने भाग को चमका सकता है जो दिल्ली के जुवे से मुक्त होने का इरादा कर रहे हैं।

सिंहासन पर बैठने के समय हसन की आयु ५७ वर्ष की थी। विजय के इन क्षणों में भी अपने पुराने स्वामी गंगू ब्राह्मण को वह नहीं भूला और उसने उसे अपना वज़ीर बना लिया।

ब्राह्मण और बहमनी

उपर्युक्त वर्णन फ़रिश्ता ने दिया है। इस वर्णन को ग्रहण करने वाले प्रायः सभी इतिहासकारों ने माना है कि हसन का विरुद सुलतान अलाउद्दीन हसन गंगू बहमनी था। असल में इसका वास्तविक रूप अलाउद्दीन बहमनशाह रहा होगा, यानी बहमन वंश का अलाउद्दीन। फ़रिश्ता ने गलत समझा कि बहमन गंगू ब्राह्मण से बना है या उसका पर्यायवाची है। बाद के इतिहासकारों ने भी इस भूल को व्यापक रूप में दोहराया है। हसन ने गंगू ब्राह्मण से नहीं, इसफ़न्दयार के पुत्र बहमन से अपना सम्बन्ध जोड़ा है।* अभिलेखों और मुद्राओं पर जो 'कंकू' नाम अंकित मिलता है, उसी को फ़रिश्ता ने भूल से गंगू बना दिया है। हो सकता है कि 'कंकू' बहमन के पिता के नाम 'कायको' से बिगड़ कर बना हो।

राज्य की सीमाएँ

हसन द्वारा इस प्रकार संस्थापित बहमनी राज्य की सीमाएँ उत्तर में ताप्ती और तुंगभद्रा और दक्षिण में कृष्णा तक फैली हुई थीं। पूर्व और पश्चिम में इसकी सीमाएँ जब-तब बदलती रहीं, केवल पन्द्रहवीं शती के अन्त में जाकर ऐसा समय आया जब इसका विस्तार सागर से सागर तक हो गया। गुलबर्ग इस राज्य की राजधानी थी।

---

* देखिए रैग कृत लैंडमार्क्स आफ़ दि दक्खिन, पृष्ठ ३; और वी० ए० स्मिथ कृत आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, १९२३ का संस्करण, पृष्ठ २७५ पर दिया हुआ फ़ुटनोट। बुरहाने मआसिर के लेखक का, जो दक्खिन के इतिहास के अधिकारी विद्वान् हैं, यह मत है कि हसन ने बहमन बिन इस्फन्दयार के वंश से अपना नाता जोड़ा है।

अलाउद्दीन बहमन शाह ने अपने राज्य को चार सूबों या 'तरफों' में बाँट दिया था—गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर। हर सूबे का अपना एक शासक था जो काफी शक्तियों का उपयोग करता था। लेकिन ये सूबेदार अपनी शक्ति के बल पर स्वतन्त्र न हो जाएँ इसलिए बहमन शाह इन सूबों का मुआयना करने के लिए बहुधा जाया करता था। उसके शासनकाल में अनेक मुसलमान अमीरों ने विद्रोह किया। इन विद्रोही अमीरों में इस्माइल माख भी सम्मिलित था जिससे बहमन शाह को सिंहासन प्राप्त हुआ था। किन्तु इन विद्रोहों के होते हुए भी बहमन शाह ने गोआ तथा पश्चिमी तट के अनेक स्थानों पर अधिकार कर लिया और तैलंगाना पर चढ़ाई की। गुलबर्गा का योग्य सूबेदार सैफ उद्दीन गोरी उसका वज़ीर था। सैफ उद्दीन १३७८ तक बहमन शाह का एक तरह से सह-शासक बना रहा। फरवरी १३५८ में सुलतान की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद शाह प्रथम सिंहासन पर बैठा।

मुहम्मद शाह प्रथम (१३५८-१३७५)

अपने सैनिक संगठन को पूर्ण करके मुहम्मद शाह ने वारंगल और विजय नगर के पड़ोसी राज्यों से गहरे युद्ध किये। उसका शासन-काल इन खूनी लड़ाइयों से भरा हुआ है। वारंगल और विजय नगर के राजाओं ने सोचा कि सुलतान अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद बहमनी राज्य कमज़ोर हो गया है। उन्होंने माँग की कि मृत सुलतान ने जितनी भूमि पर अधिकार कर लिया था, वह वापिस लौटा दी जाए। मुहम्मद ने इस माँग को एकदम ठुकरा नहीं दिया। ऊपर से उसने आश्वासन दिया कि वह माँग पर विचार कर रहा है और भीतर से अपने सैनिक संगठन को मज़बूत करता रहा। इसके बाद उसने पहले वारंगल पर आक्रमण किया। आक्रमण का कारण यह था कि कृष्णदेव के पुत्र विनायक देव ने सुलतान के लिए प्रेषित कुछ घोड़ों पर नाजायज़ अधिकार कर लिया था। राजकुमार को, पराजित होने पर भी, मुहम्मद शाह ने क्षमा कर दिया। किन्तु बाद में, राजकुमार की धृष्टता से क्रोधित होकर, मुहम्मद शाह ने तैलंगाना पर फिर आक्रमण किया। इस आक्रमण में

उसने दुर्ग पर अधिकार कर लिया और राजकुमार को मौत के घाट उतार दिया। अन्त में वारंगल के राजा को वाध्य होकर गोलकुण्डा सुलतान को देना पड़ा। इसके अलावा उसने शाह को एक बहुमूल्य रत्नजटित सिंहासन भी भेंट किया जिसे, मूलतः प्रतापरुद्र देव द्वितीय ने मुहम्मद बिन तुगलक के लिए बनवाया था।

विजय नगर के विरुद्ध आक्रमण

भोंडे कारण बता कर सुल्तान विजय नगर के विरुद्ध युद्ध किये। नशे की हालत में एक बार उस ने विजय नगर के खजाने को आदेश दिया कि उसके दरबार की नर्तकियों को अमुक रकम दे दी जाए। सोने के सिक्कों को लेकर सुलतान और विजय नगर तथा वारंगल के राजाओं में पहले से ही झगड़ा चल रहा था। उनका कहना था कि सुलतान के सिक्कों ने उनकी मुद्राओं के चलन पर बुरा प्रभाव डाला है। राजनर्तकियों को रकम देने के आदेश ने विजय नगर के राजा बुक्काराय को क्रोधित कर दिया और आवेश में आकर कृष्णा और तुङ्गभद्रा के बीच में रायचूर के उपजाऊ दोआब पर उसने अपना अधिकार कर लिया। इस पर तुङ्गभद्रा के दक्षिण में अदोनी के किले के निकट घमासान युद्ध हुआ जिसमें हिन्दुओं को परास्त होना पड़ा (१३६७)।

इस युद्ध में मुसलमानों ने तुर्की और युरोपियन बन्दूकचियों द्वारा तोपखाने का प्रयोग किया था। हिन्दुओं ने भी बन्दूकों का प्रयोग किया था। आगे चलकर मुहम्मद शाह ने विजय नगर पर भी अधिकार कर लिया और काफी कठिन संघर्ष के बाद राजा को एक बार फिर पराजित किया। इस युद्ध में राजा के नौ हज़ार से अधिक सैनिक मारे गए। बुक्काराय ने शान्ति का प्रस्ताव किया और सुलतान ने जो रकम देने को कहा था, उसे ख़ज़ाने से दिलवा दिया। मुसलमान इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार मुहम्मद शाह ने, अपने शासन-काल के सत्रह वर्षों में, पाँच लाख हिन्दू मारे होंगे। १३७५ में उसकी मृत्यु हो गई।

सुलतान बहुत ही सजग और कायदे का पाबन्द शासक था। केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों शासनों का उसने पुनर्संगठन किया था।

आठ वज़ीरों की एक केबीनेट बनाई थी जो सुलतान के वकील (राज्य के लेफ्टीनेन्ट), वज़ीर (देख-भाल करने वाले मन्त्री), अर्थ और पर राष्ट्र विभाग के वज़ीर, नाज़िर (अर्थ मन्त्री के सहायक), पेशवा (राज्य के लेफ्टीनेन्ट के सहायक), कोतवाल (पुलिस के प्रमुख और राज्य के मजिस्ट्रेट) और सद्रे—जहाँ (प्रमुख न्यायाधीश और धर्म-मंत्री) का काम करते थे।

शाही अंग रक्षकों में २०० अफसर और ४००० सैनिक नियुक्त थे। ये चार पाँतों में विभाजित थे। ये तथा राज्य के अन्य विभाग अन्त तक बने रहे। राज्य का अन्त होने पर, इस में से जिन अन्य उपराज्यों (छोटी सल्तनतों) का उत्थान हुआ, उन्होंने भी इन विभागों की नकल की। मिश्र के कठपुतली खलीफ़ा से सुलतान ने 'दक्खिन के बादशाह' का मान्यतापत्र प्राप्त किया था।

मुजाहिद शाह (१३७३-१३७७)

मुहम्मद के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुजाहिद शाह सिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर बैठते ही उसने सबसे पहले, उद्धत ढंग से, विजय नगर के राजा को आदेश दिया कि वह दोआब के क्षेत्र से जहाँ इस हिन्दू राजा के कुछ किले थे, बिल्कुल हट जाए। इस पर युद्ध छिड़ा जिसमें बुक्काराय पराजित हुआ। किन्तु विजेता भी अधिक दिन जीवित नहीं रह सका। उसके चचा ने उसे मार डाला। चचा का नाम दाउदशाह था। सुलतान ने उसे, उसकी कर्तव्य विमुखता के लिए, बुरी तरह झिड़का था।

मुजाहिद शाह की मृत्यु के बाद उसकी बहिन ने हसन कांगू के पुत्र मुहम्मद शाह को सिंहासन पर बैठाया। वह शान्तिप्रिय था। काव्य और दर्शन में उसकी रुचि थी। फारसी के महान् कवि हाफ़िज़ को अपने दरबार में रखने के लिए उसने निमन्त्रित किया। किन्तु हाफ़िज़ समुद्री यात्रा से बहुत डरता था। सुलतान के निमन्त्रण का उसने जो जवाब भेजा वह साहित्य की निधि बन गया है।

सुलतान की प्रजा उसे बहुत चाहती थी। प्रजा में वह दूसरे अरस्तू के रूप में प्रसिद्ध हुआ। १३९७ ईसवी में, ज्वर के कारण,

उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गयासउद्दीन सिंहासन पर बैठा।

गयास उद्दीन और शम्सुद्दीन

गयासउद्दीन का शासन-काल अराजकता और शाही महल की क्रान्तियों का काल रहा। वह गरम दिमाग का आदमी था। ऐश व आराम पसन्द था और दुनिया भर के दुर्व्यसनों में लिप्त रहता था। उसके एक तुर्की गुलाम लालचिन की कन्या बहुत सुन्दर थी। सुलतान उसे अपने हरम में दाखिल करना चाहता था। लालचिन ने जाल रचकर सुलतान को फँसा लिया और उसकी आँखें फोड़ दीं। इसके बाद उसने सिंहासन पर गयासउद्दीन के भाई शम्सुद्दीन को बैठाया। किन्तु सुलतान की दोनों बेटियों ने, जिनका विवाह दाउद शाह के लड़कों फीरोज़ खाँ और अहमद खाँ से हुआ था, शक्ति बटोर कर शम्सुद्दीन को सिंहासनच्युत कर उसे भी अंधा बना दिया और तुर्की गुलाम लालचिन को जान से मरवा दिया। इसके बाद फीरोज़ खाँ सिंहासन पर बैठा जो फीरोज़शाह बहमनी के नाम से प्रसिद्ध हुआ (नवम्बर, १३९७)।

फीरोज़शाह (१३९७-१४२२)

फीरोज़शाह बहमनी इस परम्परा का आठवाँ सुलतान था। वह बहुत प्रतिभासम्पन्न था। उसके शासन-काल में राज्य की सम्पन्नता अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई। आयात के व्यापार पर उसने विशेषरूप से ध्यान दिया। गोआ और चौल के बन्दरगाहों पर विदेशी जहाज़ निरंतर आकर लगते थे। प्रतिभा की, जहाँ भी वह मिले, सुलतान कद्र करता था। सुविख्यात आदमियों से वह घिरा रहता था। स्त्रियों के प्रति उसके हृदय में कमज़ोरी थी और उसका हरम उनसे भरा रहता था। कहा जाता है कि उसके हरम में ३०० विभिन्न जातियों की स्त्रियाँ थीं और वह प्रत्येक से, उसी की मातृ-भाषा में, बात कर सकता था।

फ़ीरोज़ ने शासन की मशिनरी का पुनर्संगठन किया और प्रमुख पदों पर ब्राह्मणों को नियुक्त कर दिया। वह एक सच्चा, मुसलमान था, पर मदांध नहीं था। किन्तु बाद में, आगे चल कर, वह दुर्व्यसनों के जाल में फँस गया। सुप्रसिद्ध सन्त गेसू दराज़

को, जो दिल्ली से आकर गुलबर्ग में बस गया था, उसने पर्याप्त मान्यता प्रदान की।

फीरोज़ के युद्ध

फीरोज़शाह महान योद्धा भी था। उसने अपने शासन-काल में चौबीस युद्ध किये। तैलंगाना के अधिकांश भाग पर उसका अधिकार हो गया था। उसकी लड़ाइयों में दो विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। बहमनी राज्य में और विजय नगर में इधर काफी दिनों से शान्ति चली आती थी। किन्तु हरिहर द्वितीय के पुत्र राजकुमार बुक्का ने, जो बुक्काराय के बाद सिंहासन पर बैठा था, इस शान्ति को भङ्ग कर दिया। शान्ति भङ्ग होने का कारण यह था कि राजकुमार ने सहसा रायचूर के दोआब पर आक्रमण कर कृष्णा के दक्षिणी भाग पर अपना अधिकार कर लिया।

यह आक्रमण इतना आकस्मिक था कि फीरोज़ शाह स्तब्ध रह गया। उसे कुछ सुझाई न पड़ा कि क्या करे। किन्तु एक काज़ी ने आगे बढ़कर वचन दिया कि वह उद्धत बुक्का की हत्या करे बिना नहीं रहेगा। एक गानेवाले के भेष में काज़ी ने बुक्का की छावनी की एक नर्तकी से मित्रता कर ली। दोनों ने मिलकर, अपने नाच-गाने का प्रदर्शन किया। इस प्रदर्शन के दौरान में काज़ी ने बुक्का की छाती में खंजर खोंस दिया जिससे उसकी तुरंत मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद हिन्दू छावनी में अराजकता और गड़बड़ फैल गई। इस गड़बड़ से लाभ उठाकर फीरोज़ ने कृष्णा को पार कर समूची हिन्दू सेना को मौत के घाट उतार दिया। वृद्ध हरिहर को, अपने पुत्र की हिमाकत के लिए, सुलतान को ४००,००० पौंड हरजाना देना पड़ा।

सुन्दरी निहाल

फीरोज़ के शासन की दूसरी महत्वपूर्ण घटना सुनार जाति की एक सुन्दर कन्या निहाल से सम्बन्ध रखती है। उसे लेकर बहमनी राज्य और विजय नगर में भारी युद्ध हो गया। एक ब्राह्मण ने निहाल को गाने-नाचने में बड़ी लगन के साथ दक्ष किया था। हरिहर का उत्तराधिकारी देवराय उसे चाहता था। दोआब में मुक-

दल की रहने वाली निहाल ने देवराय की इच्छा को पूर्ण नहीं किया, क्योंकि वह जानती थी कि उस पर मुसलमान सुलतान का अधिकार है और उसी की वह हो सकती है। उसे अपने वश में करने के लिए देवार्य ने दोआव में भारी सेना भेजी। फलस्वरूप युद्ध छिड़ गया। इस अकारण आक्रमण से क्रुद्ध होकर फीरोज़ ने विजय नगर पर अपनी सेनाएँ छोड़ दीं, खुल कर जहाँ तक हो सका लोगों को मौत के घाट उतार दिया और अन्त में देवराय को बाध्य कर दिया कि अपनी कन्या के साथ सुलतान का विवाह होने दे। देवराय ने बांकपुर तथा अन्य कई ज़िले सुलतान को प्रदान किये। निहाल, जिसके लिए युद्ध हुआ, बाद में फीरोज़ के पुत्र की पत्नी बनी।

फीरोज़ की हार

१४२० के लगभग फीरोज़ ने बिना किसी कारण के वारंगल राज्य की सीमा पर स्थित पांगल के मज़बूत किले पर आक्रमण कर दिया। वारंगल के प्रमुख ने विजय नगर के देवराय द्वितीय के साथ मिलकर इस आक्रमण का प्रतिरोध किया और शत्रु की सेनाओं को तितर-बितर कर दिया। अगर सुलतान के भाई अहमद खाँ ने फीरोज़ को सिंहासन छोड़ने के लिए तैयार न कर लिया होता तो देवराय का समूचे दोआब पर आधिपत्य हो जाता। सेना ने अहमद खाँ को अपना सुलतान मान लिया और फीरोज़ के राज त्याग देने पर उसने सिंहासन पर अधिकार किया। इसके बाद कुछ ही समय में फीरोज़ की मृत्यु हो गई।

महान निर्माता

फीरोज़ महान निर्माता था। गुलबर्ग से कुछ दूर उसने एक नगर बनवाया और इसका नाम फीरोज़ाबाद रखा। गुलबर्ग में भी अनेक इमारतें बनवाकर उसने इसकी सौन्दर्य-वृद्धि की। इन इमारतों में वहाँ की महान मसजिद का स्थान प्रमुख है।*

फीरोज़ शाह का बड़ा लड़का हसन शाह राजकाज सँभालने की दृष्टि से निकम्मा सिद्ध हुआ। राज-व्यवस्था चलाने के लिए कठोर

*जी० यज़दानी—दि ग्रेट मस्क आफ गुलबर्ग इन इसलामिक कलचर, खंड २, भाग १।

योद्धा होना ज़रूरी था। हसन योद्धा नहीं, प्रेमी था और सुन्दर निहाल के प्रति उसने पूरी तरह आत्म समर्पण कर दिया था। अन्त में उससे उकता कर अमीरों ने अहमद ख़ाँ को अपना सुलतान स्वीकार कर लिया।

अहमद शाह (१४२२-१४३५)

अहमद शाह ने भी विजय नगर के साथ अपने खान्दानी संघर्ष को जारी रखा। राजधानी के आस पास के प्रदेश को लूट-पाट कर उसने बराबर कर दिया और प्रजा पर अकथनीय अत्याचार किये। कहा जाता है कि उसने युद्ध के बाद बीस हज़ार हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया और—"तीन दिनों तक रुक कर उसने इस खूनी घटना का उर्स मनाया।" इस उर्स के परिणामस्वरूप सुलतान को वली या सन्त की उपाधि दी गई। अन्त में विजय नगर के राजा ने, प्रतिरोध की कोई उपयोगिता न देखकर, शान्ति का प्रस्ताव किया जो, सुलतान की शर्तों पर, स्वीकार कर लिया गया।

इसके बाद अहमद ने उत्तर की दिशा में वारंगल की ओर मुँह किया, नगर को घेर कर उसके प्रमुख को मरवा डाला और समूचे प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया (१४२३)। अपने शासन-काल में केवल एक वार, गुजरात के सुलतान के सम्मुख, अपने सेनापति की गलती के कारण, उसे मुँह की खानी पड़ी। अहमद शाह ने एलिचपुर तक अपनी विजयों का विस्तार किया और अपने राज्य की उत्तरी सीमा की रक्षा के लिए गाविलगढ़ और नरनाल के पहाड़ी किलों का फिर से निर्माण कराया। लगभग तेरह वर्ष के शासन के बाद उसकी मृत्यु हो गई (फरवरी १४३५)। अपनी मृत्यु से पहले सुलतान ने गुलबर्गा के बजाय बीदर को अपनी राजधानी बना लिया था। (१४२९) बीदर प्राचीन विदर्भ की जगह पर, पहली राजधानी के उत्तर-पूर्व में ६० मील दूर, स्थित था। मीडोज़ टेलर का कहना है कि यह राजधानी का बदलना ठीक था। एक तो बीदर की आबोहवा अच्छी थी, दूसरे किलेबंदी और युद्धनीति की दृष्टि से इसका महत्व अधिक था।

अहमद शाह अंधविश्वासी और कट्टर था, यद्यपि यह कहा

जाता है कि फारस के एक सन्त के प्रभाव से उसने शिया मत को अंगीकार कर लिया था। उसके आदेश से 'बहमन नामा'—बहमन वंश का पद्यबद्ध इतिहास—रचा गया जो दुर्भाग्य से अब उपलब्ध नहीं है।

अलाउद्दीन द्वितीय (१४३५-१४५७)

अहमद शाह का ज्येष्ठ पुत्र अलाउद्दीन शाह इसके बाद सिंहासन पर बैठा। उसके शासन का प्रारम्भिक काल घरेलू संघर्ष और द्वन्द्व से पूर्ण रहा। उसके भाई मुहम्मद खाँ ने विद्रोह कर स्वयं सिंहासन पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे पराजित कर क्षमा कर दिया गया। इसके बाद उसकी पत्नी की ओर से झगड़ा उठ खड़ा हुआ। मलिका जहाँ ने अपने पिता—खानदेश के बादशाह—की मदद से अपने पति के खिलाफ कार्यवाही की। मलिका जहाँ की नाराज़ी का कारण यह था कि सुलतान कोंकन के एक नवाब की लड़की से प्रेम करने लगा था। खानदेश के शासक नासिर खाँ ने गुजरात के सुलतान और दक्खिन के कुछ अमीरों की मदद से बरार पर आक्रमण कर दिया। अलाउद्दीन ने इस संघर्ष में भी सफलता प्राप्त की। उसने अपने विजयी सेनापति मलिक-उल-तुजर का, जो दौलताबाद का शासक, विदेशी दल का नेता और फारस का रहने वाला था, स्वागत किया और उस पर तथा दूसरे विदेशी अफसरों पर उपाधियों की बौछार कर दी।

विदेशी अफसरों पर उपाधियों और प्रतिष्ठा की इस निरवधि बौछार में शिया और सुन्नियों (विदेशी और दक्खिनवासियों) के बीच आन्तरिक संघर्ष उठ खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप, अन्त में, दकन में मुस्लिम राज की एकता भङ्ग हो गई।

यहाँ यह जान लेना अप्रसंगिक न होगा कि मध्यकाल में दक्खिन के मुसलमान दो दलों, शिया और सुन्नी, में उग्ररूप से विभाजित थे। वे मुसलमान जो बाहर से भारत में अपनी अपनी लड़ाकू और साहसिक वृत्ति से प्रेरित होकर आए थे—जैसे मुगल, पर्शियन, तुर्क और अरब—वे सब शिया थे। सुन्नी वे थे जो दक्खिन के ही रहने वाले थे। ये सब, अधिकांशतः, पहले हिन्दू थे और अब मुसलमान बन

गए थे। अबीसीनिया से आकर बसने वाले लोगों ने इनका, देशज मुसलमानों का, साथ दिया। सैनिक साहस और राजनीतिक कौशल की दृष्टि से विदेशी लोग यहाँ के सुन्नियों से श्रेष्ठतर थे। इसलिए स्थानिक शासक बहुधा उनकी श्रेष्ठता का अपने राजकाज में उपयोग करते थे—उन्हें ऊँचे-ऊँचे सैनिक तथा सिविल पदों पर नियुक्त करते थे।

बाहर से जो मुसलमान आक्रमणकारियों के दल, बाढ़ की तरह एक के बाद एक आए, वे सब अधिकांशतः मुहम्मद साहब के अनुयायी थे—बल्कि कहना चाहिए कि मुहम्मद साहब के अनुयायियों में अधिकांशतः विदेशी मुसलमान ही थे। यहाँ तक कि अलाउद्दीन के शासन-काल में भी, दक्खिनी मुसलमानों के दल सुलतानों के प्रियपात्र विदेशी अफसरों के विरुद्ध झूठे-सच्चे आरोप लगा-लगा कर उन्हें नष्ट करने के प्रयत्नों से कभी नहीं चूके। एक बार उस वक्त जब अलाउद्दीन ने अपनी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी कोंकन के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए भेजी तो मलिक-उल-तुजर के नेतृत्व में जाने वाली सुलतान की इस सेना पर तरह-तरह के लांछन लगाए गए—यहाँ तक कि इस सेना के काफी सैनिकों को दक्खिनी सरदारों ने मौत के घाट भी उतार दिया। इतना ही नहीं बल्कि इन सरदारों ने सैनिकों के मारने का आरोप भी शिया सेनापति पर ही लगाया। लेकिन अलाउद्दीन को सत्य से अवगत होते देर नहीं लगी—परिणामतः उसने दक्खिनी दल को दण्डित किया।

अलाउद्दीन का सबसे अन्तिम कृत्य अपने भतीजे सिकन्दर खाँ के नेतृत्व में होने वाले विद्रोह का दमन करना था। विजय नगर से उसका कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष चलता रहा। विजय नगर के राजा ने द्रुतगति से अपनी सेना का पुनर्संगठन कर लिया था। इस बार उसकी सेना में काफी संख्या में विदेशी मुसलमान—जो घोड़सवार तीरन्दाज थे—भर्ती किए गए। इन सब से सुसज्जित होकर उसने रायचूर दोआब पर आक्रमण कर मुदगल पर अधिकार कर लिया और बीजापुर तक के प्रदेश को रौंद डाला। किन्तु अन्त में, इस बार भी, हिन्दुओं को ही शान्ति का प्रस्ताव करना पड़ा।

[२]

राज्य का ह्रास

ज़ालिम हुमायूँ (१४५७-१४६१)

अगला सुलतान ज़ालिम हुमायूँ हुआ। उसने विदेशियों के सम्प्रदाय को अपने साथ लिया। वह इतना जालिम था कि तीन वर्ष के अल्पकालिक शासन के बाद जब वह मर गया तो लोगों ने उसकी मृत्यु पर प्रसन्नता प्रकट की।

निज़ाम शाह (१४६१-१४६३)

हुमायूँ का नाम ज़ालिम पड़ गया था।* उसके एक नौ वर्ष का पुत्र निज़ाम शाह था। मलिका ने उसकी ओर से, रीजेन्ट के रूप में, सिंहासन को सँभाला। उसने बड़ी तत्परता के साथ वारंगल के पड़ोसी राज्य की मदद की और उड़ीसा के शासक से लोहा लिया जिसने वारंगल के राजवंश के एक बुजुर्ग के लिए वारंगल पर आक्रमण कर दिया था। जुलाई १४६३ में सुलतान की हृदय की गति रुक जाने से मृत्यु हो गई।

मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३-१४८२)

निज़ामशाह के बाद उसका छोटा भाई मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३-१४८३) सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में बहमनी राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद ही इसका पतन भी शुरू हो गया। महान बहमनी सुलतानों में वह सबसे अन्तिम था। विजय नगर से युद्ध करके उसने बेलगाँव और गोआ पर फिर से अपना अधिकार स्थापित किया। विश्वास-घात करने पर उसने कोन्दपल्ली के सामन्त का दमन किया और लूट की दृष्टि से उसने कञ्जीवरम पर चढ़ाई की। कोन्दपल्ली में उसने एक हिन्दू मन्दिर को नष्ट कर उसके ब्राह्मण पुजारियों को मरवा डाला। इस कृत्य के बाद यद्यपि उसने गाज़ी की उपाधि

---

* इतिहासकार के शब्दों में—"उसका ज़ालिम क्रोध हिन्दू और मुसलमान किसी को नहीं छोड़ता था, अपराधी और निर्दोष दोनों ही उसकी चक्की में पिसते थे और एक के 'कसूर' करने पर समूचे परिवार को मौत के घाट उतरवा देता था।"

धारण की, किन्तु दक्खिन के मुसलमानों ने इस कृत्य में बहमनी राज्य के लिए अशुभ के सिवा और कुछ नहीं देखा। इससे भी अधिक बुरा काम उसने यह किया कि अपने वज़ीर ख्वाजा महमूद गवन को मरवा डाला। हत्या के समय वजीर की आयु ७८ वर्ष थी।

नये सूबों की रचना

दक्खिन में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, दो प्रमुख सम्प्रदाय थे—एक विदेशियों का (फारसी, मुगल और अन्य), दूसरा दक्खिनियों का जिसमें अधिकांशतः स्थानीय मुसलमान थे। राज्य का विस्तार पुरानी सीमाओं से आगे बढ़ गया था—अब वह पूर्वी सागर से पश्चिमी सागर तक फैला हुआ था। गुलबर्ग और दौलताबाद के सूबों की आबादी पहले से दुगुनी हो गई थी। तैलंगाना की आबादी दुगुनी से भी अधिक हो गई थी और उसके क्षेत्र का विस्तार राजामुन्द्री से भी आगे तक हो गया था। अमीर-उल-उमरा महमूद गवन गुलबर्गा का सूबेदार था और एक दूसरा विदेशी अमीर यूसुफ आदिल खाँ दौलताबाद का सूबेदार था। तैलंगाना का शासक मलिक हसन था और बरार एक अन्य दक्खिनी के शासन में था। गवन की योजना थी कि इनमें से प्रत्येक सूबे को दो हिस्सों में बाँट दिया जाए—तैलंगाना को राजामुन्द्री और वारंगल में, गुलबर्ग को गमिलगढ़ (उत्तरी) और माहूर (दक्षिणी) में, दौलताबाद को पूर्व में और पश्चिम में जुन्नैर, गुलबर्ग को पश्चिम में बेलगाँव और पूर्व में गुलबर्गा, इस प्रकार चार के आठ सूबे बना दिए जाएँ। इस नये सूबों के अधिपतियों के अधिकारों में भी, अनेक प्रकार से, उसने कमी कर दी। उनके अधिकार क्षेत्र से उसने राज-भूमि तथा कितने ही किलों को बाहर कर दिया।

इन नये सूबों को, विदेशियों और दक्खिनियों में, समान दृष्टि से उसने विभाजित किया था। किन्तु दक्खिनी अमीर फारस के निवासी महमूद गवन की बढ़ती हुई शक्ति से जलने लगे और उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा। वज़ीर के जाली हस्ताक्षर बनाकर उन्होंने उड़ीसा के राजा के नाम एक खत लिखा। इस जाली पत्र में, गवन के मुँह से, यह कहलाया गया था कि वह सुलतान की

शराबखोरी से तंग आ गया है, अगर उड़ीसा के राजा आक्रमण करें तो वह उनका साथ देगा और, विजय होने पर, राज्य को आपस में बाँट लेंगे।

इस जाली खत पर उन्होंने गवन की मुहर लगा दी। मुहर उन्होंने एक गुलाम के द्वारा प्राप्त की थी। इस खत को षड्यन्त्र-कारियों ने सुलतान के सामने पेश कर दिया। उस समय सुलतान नशे में चूर था। बिना सत्य की जाँच कराये महमूद शाह ने वज़ीर को अपने सामने बुलाकर उसे मृत्यु दण्ड दे दिया। इस प्रकार उसने एक ऐसे आदमी की हत्या की जिसने वहमनी राज्य को बनाने में सर्वाधिक योग दिया था। इस हत्या से समूचे राज्य में शोक की लहर फैल गई जो राज्य के पतन और ह्रास का कारण सिद्ध हुई। गवन ने पैंतीस साल तक राज्य की सेवा की थी और अगर वह जीवित रहता तो दोनों सम्प्रदायों के संघर्ष को कभी इस प्रकार न बढ़ने देता कि राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और उसकी हत्या के बाद विदेशियों और कुछ दक्खिनियों ने भी सुलतान-विरोधी रूप धारण कर लिया।

महमूद शाह (१४८२-१५१८)

गवन के हत्यारे के बाद उसका पुत्र महमूद शाह (१४८२-१५१८) सिंहासन पर बैठा। उसका शासन निरन्तर हत्याओं और षड्यंत्रों का शासन था। उसके शासन-काल में विभिन्न प्रान्तीय शासक प्रायः स्वतंत्र हो गए और उनमें से प्रत्येक ने अपनी अलग शासन-व्यवस्था स्थापित कर ली। इस दिशा में सबसे पहले बीजापुर के यूसुफ आदिल खाँ और बरार के इमादुल मुल्क आगे बढ़े।

यूसुफ आदिल खाँ का जीवन काफी रोमांचकारी था। कुस्तुन-तुनिया को ध्वस्त करने वाले सुलतान महमूद द्वितीय का वह छोटा भाई था। बड़े भाई ने क्रुद्ध हो उसे मौत के घाट उतारने का आदेश दे दिया था। उसकी माँ ने उसे बचा लिया और उसकी जगह एक जार्जियन गुलाम की हत्या करा दी। इसके बाद, भेष बदल कर, वह अलेकज़ेन्ड्रिया भेज दिया गया। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तो उसकी दाई ने यह भेद खोला। अपने भाई के प्रतिशोध से बचने के लिए वह शीराज़ भाग कर चला आया। १४५९ में वह भारत

पहुँचा और एक सौदागर के चंगुल में फँस गया जिसने उसे, बीदर में, जार्जियन गुलाम के रूप में, गवन के हाथ बेच दिया।

गवन के यहाँ वह इतना ऊँचा उठा कि दौलताबाद का शासक बन गया। बहमनियों के यहाँ रह कर कोई इससे ऊँचे पद पर नहीं पहुँच सकता था—सूबेदारी का पद ही सबसे ऊँचा पद था। उसी को महमूद ने प्राप्त कर लिया। गवन की हत्या के बाद शीघ्र ही उसने बीजापुर के राज्य को भी सुलतान के हाथ से निकाल कर अपने अधिकार में कर लिया। इसी समय उसके दो साथी-सूबेदारों ने बरार की सूबेदारी प्राप्त किया। आगे चलकर, महमूद शाह के शासन-काल में जो, महमूद तृतीय के बाद सिंहासन पर बैठा था, दकनी सम्प्रदाय के एक व्यक्ति मलिक अहमद ने अहमद-नगर का शासन-भार ग्रहण किया। मलिक अहमद गवन की जगह पर नियुक्त वज़ीर निज़ाम-उल-मुल्क का पुत्र था। उसी का यूसुफ आदिल खाँ ने भी तुरत अनुसरण किया और अपने को बीजापुर का सुलतान घोषित कर दिया। इस प्रकार उसने आदिलशाही वंश की स्थापना की।

१४६० में अहमद नगर, बीजापुर और बरार के सूबेदारों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अपने नामों के आधार पर ही उन्होंने अपने राज-वंशों का भी नाम रखा—निज़ामशाही, आदिल-शाही, इमादशाही। निज़ामशाही को छोड़ कर शेष दोनों स्वतंत्र होने पर भी बहमनी सुलतान के प्रति अपनी वफादारी की घोषणा करते रहे।

तैलंगाना के शासक कुतुब-उल-मुल्क ने गोलकुण्डा में कुतुबशाही की स्थापना की। बहमनी वंश के पास अब केवल बीदर रह गया जो कासिम बारिद के शासन में था। १४६२ में कासिम बारिद ने भी अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी, किन्तु सुलतान ने उसे फिर मिला लिया और अमीर जुमला का खिताब उसे प्रदान किया। मुहम्मद शाह तृतीय के बाद जो कठपुतली सुलतान सिंहा-सन पर बैठे, वे बीदर को भी अपने पास नहीं रख सके। कासिम-बारिद के परिवार के ही एक व्यक्ति ने, जो वज़ीर के पद पर नियुक्त था, अन्तिम बहमनी सुलतान कलीम उल्लाह को भगाकर उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। कलीम उल्लाह

व्यर्थ ही मुगल सम्राट से सहायता की याचना की। बाबर अभी पानीपत की लड़ाई जीता था। उसकी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं जिनकी पूर्ति के लिए उसे बहुत कुछ करना था। कलीम उल्लाह की याचना की ओर उसने ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार, १५२६ में, सुलतान अलाउद्दीन बहमन शाह द्वारा संस्थापित महान बहमनी राज पाँच स्वतंत्र सल्तनतों में विभाजित हो गया—उत्तर में बरार और अहमद नगर, दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा, मध्य में बीदर।

बहमनी वंश में अठारह सुलतान हुए। इनमें कुछ मदिरा के व्यसन में फसे रहे और कई कट्टरता की मूर्ति सिद्ध हुए। प्रजा के साथ उनके सम्बंध में मात्राओं का अन्तर था। किन्तु उस काल के अन्य शासकों के सम्बन्धों जैसा ही उनका भी अपना प्रजा के साथ सम्बन्ध था। राज के ह्रास का कारण प्रमुख रूप से बाद के बहमनी सुलतानों का अपने वज़ीरों के हाथ की कठपुतली बन जाना था और सूबों के शासक वज़ीरों के इस प्रभुत्व को कभी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते थे।

[३]

दक्खिन की सल्तनत

यह हम देख चुके हैं कि बहमनी राज किस प्रकार खंडित होकर पाँच सल्तनतों में बँट गया। ये सल्तनतें थीं—(१) बरार की इमादशाही, (२) बीदर की बारिदशाही, (३) गोलकुण्डा की कुतुबशाही, (४) अहमद नगर की निज़ामशाही और (५) बीजापुर की आदिलशाही। यहाँ हम इन सल्तनतों के जीवन की मोटी रूप-रेखा देने और यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार ये सल्तनतें अन्त में मुगल साम्राज्य में मिला ली गईं।

सल्तनतों की राजनीति

इन पाँच सल्तनतों में से बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमद नगर को सल्तनतें बड़ी और शक्तिशाली थीं। बीजापुर और गोलकुण्डा के संस्थापक यूसुफ आदिलशाह और कुली कुतुबशाह, दोनों शिया थे। अहमद निज़ाम शाह के पुत्र और उत्तराधिकारी बरहान

ने भी शिया-मत को अंगीकार कर लिया था। उसके शेष उत्तराधिकारी भी, प्रमुखतः, शिया ही थे।

बरार की छोटी-सी सुन्नी सल्तनत १५७४ में अहमदनगर में मिला ली गई। १६१९ में बीदर को बीजापुर ने उदरस्थ कर लिया। बावजूद बहुधा होने वाले अन्तर्विवाहों और बाहरी शत्रु के विरुद्ध समान धार्मिक तथा जातीय हमलों के—तीनों बड़ी सल्तनतों में परस्पर संघर्ष चलता रहा। बड़ी सल्तनतों के संघर्ष ने छोटी सल्तनतों को अपना अस्तित्व बनाए रखने का अवसर प्रदान किया। मुगलों के आक्रमण से उत्पन्न संकट से लोहा लेने के लिए इनमें से एक भी अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सका। आदिलशाही का बार-बार शिया-मत से विचलित होने का फल यह हुआ कि दक्खिनी और विदेशियों के बीच का पुराना झगड़ा फिर ताज़ा हो गया। इसके सिवा बीजापुर और अहमदनगर तथा अहमदनगर और बरार के बीच सीमाओं को लेकर चलने वाले छोटे-मोटे उत्पात भी युद्ध की बारूद के लिए चिंगारी का काम कर रहे थे। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बीजापुर और अहमदनगर में बराबर ठनी रहती थी। उनके निरन्तर संघर्ष का प्रमुख कारण सीमास्थित शोलापुर का किला था। संघर्ष के इस काल में गोलकुण्डा इन दोनों के बीच सन्तुलन का काम करता था, क्योंकि इन दो शत्रुओं में से एक का भी समाप्त होना उसके लिए संकट उत्पन्न कर सकता था। बरार भी इस संघर्ष में अपना पार्ट सावधानी के साथ निभा रहा था।

बरार

प्रारम्भ से ही बरार और अहमदनगर के बीच झगड़े का कारण उत्पन्न हो गया था। बरार की सीमाओं के अन्तर्गत पथरी नामक नगर और जिला आ गये थे। अहमदनगर के बरहान निज़ामशाह का कहना था कि यह नगर और जिला उसके ब्राह्मण पूर्वजों की सम्पत्ति है। फलतः पथरी को लेकर बरार और अहमदनगर के बीच युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध के दौरान में एक बार ऐसा अवसर भी आया जब अलाउद्दीन इमादशाह ने, १५२९ में, गुजरात के बहादुरशाह से भी मदद चाही। यह अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि गुजरात का

सुलतान महत्वाकांक्षी था। अवसर मिलते ही, मदद के बहाने, उसने दक्खिन के मामलों में अपना पाँव जमाना चाहा—और एक बार तो ऐसा लगा कि वह स्थायी रूप से दक्खिन को अपना अड्डा बना लेगा।*

इन सब कारणों से बरार अहमदनगर से घृणा करने लगा। इस घृणा का एक फल यह हुआ कि उस समय जबकि अहमदनगर विजयनगर-विरोधी मुस्लिम गुट्ट में सम्मिलित हुआ (जिसका हम अभी वर्णन करेंगे) बरार उससे अलग रहा। तालिकोट युद्ध (१५६५) के बाद मुस्लिम सल्तनतों के गुट्ट ने तटस्थ रहने के लिए बरार को दंडित करना चाहा। परिणामतः बीजापुर और अहमदनगर ने मिलकर बरार पर चढ़ाई कर दी। इसी बीच बरार में राजक्रान्ति हो गई। इसमें इमादशाही का अन्तिम शासक बरहान अपदस्थ कर दिया गया और सत्ता उसके वज़ीर तुफलखाँ के हाथों में चली गई।

इस राजक्रान्ति ने अहमदनगर के मुर्तज़ा निज़ामशाह को बरार पर आक्रमण करने का एक अतिरिक्त बहाना प्रदान किया (१५७२)। बरहान को फिर से सिंहासन पर बैठाने का बहाना कर, बड़ी सेना के साथ, उसने बरार पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में तुफलखाँ पराजित हुआ और उसे बंदी बना लिया गया। उसके पुत्र ने गाविल गढ़ का समर्पण कर दिया और इस प्रकार बरार पर पूर्ण विजय प्राप्त हो गई। वज़ीर, उसका पुत्र और सुलतान बरहान इमादशाह तीनों किले में बंद कर दिये गए और इसके कुछ काल बाद उनकी वहीं मृत्यु हो गई।

बरार अब अहमदनगर का ही एक अंग बन गया (१५७४)। किन्तु अहमदनगर इस पाप की जीत का अधिक दिन उपयोग न कर सका। शीघ्र ही दक्खिन में मुगलों की पदचाप सुनाई पड़ने लगी। वे देखते-देखते अहमदनगर के द्वार तक बढ़ आए। चाँद बीबी ने, जो राजकाज संभाल रही थी, बरार देकर आक्रमणों से किसी प्रकार अहमदनगर की रक्षा की। इस प्रकार बरार अकबर के हाथों में पहुँच गया और अकबर ने अपने दूसरे

* देखिए हैग लिखित "लैंडमार्क्स आफ दि दकन", पृष्ठ १५

पुत्र सुलतान मुराद को बरार का शासक नियुक्त कर दिया। किन्तु बरार में मुगलों के पाँव अच्छी तरह से जहाँगीर के शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में ही जम सके।

बीदर

बीदर वही प्राचीन विदर्भ है जिससे नल-दमयन्ती का नाम सम्बद्ध है। ऐतिहासिक काल में वल्लभि वंश के राजा विजयसेन ने विदर्भ का पुनर्स्थापन किया था (३१६ ईसवी)। भारतीय इतिहास के समूचे हिन्दू काल में विदर्भ अपेक्षाकृत अंधकार में रहा। १३२२ में मुहम्मद बिन तुगलक ने बीदर (विदर्भ) पर अधिकार किया। उसके शासन-काल में बीदर विद्रोहों का प्रमुख केन्द्र बन गया। १३४७ में अलाउद्दीन हसन बहमनी ने इस पर अधिकार किया और इसके शीघ्र बाद ही उसने अपने को सुलतान बहमन शाह घोषित कर दिया। उसके शासन-काल में बीदर एक सूबे का प्रधान केन्द्र बन गया। जैसा कि पहले बता चुके हैं, नवाँ बहमनी सुलतान अहमद शाह वली बीदर की आबोहवा और महत्वपूर्ण स्थिति से इतना आकर्षित हुआ कि उसने गुलबर्गा को छोड़ कर इसे अपनी राजधानी बना लिया। इसके बाद से बीदर बराबर बहमनी सुलतानों की राजधानी बना रहा। बहमनी वंश के बाद बारिदशाही ने भी उसे अपनी राजधानी बनाए रखा।

बारिदशाही का शासन

किन परिस्थितियों में बारिदशाही ने कठपुतली सुलतानों को हटा कर सत्ता अपने हाथ में की, यह हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप में बारिदशाही के इतिहास की रूप-रेखा देने का प्रयत्न करेंगे।

बहमनी राज्य के पाँच स्वतंत्र सल्तनतों में बँट जाने के बाद बीदर को अपने अस्तित्व मात्र के लिए संघर्ष करना पड़ा। इसके सुलतान चतुर राजनीतिक थे। अपनी चतुराई के बल पर उन्होंने कुछ काल तक बीदर की स्वतंत्रता को बचाए रखा। इसकी नीति बीजापुर के विरुद्ध मुस्लिम राज्यों के गुट का साथ देने की थी। बीजापुर से सबसे बड़ा युद्ध कासिम बारिद के पुत्र अमीर अली

बारिद् के काल में हुआ जो अपने पिता के बाद १५०४ में सिंहासन पर बैठा था।

अमीर अली बारिद ने अहमदनगर, बरार और गोलकुण्डा के सुलतानों का बीजापुर के विरुद्ध साथ दिया, किन्तु युद्ध में पलड़ा बीजापुर का ही भारी रहा। १५४२ में अमीर अली बारिद की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी अली-बारिद ने खुले रूप में सुलतान की उपाधि धारण कर ली और बीजापुर के विरुद्ध खानदानी संघर्ष को जारी रखा। उसके बाद कई अल्प आयु सुलतान सिंहासन पर बैठे। १६१९ में बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने बीदर पर आक्रमण कर दिया और उसके शासक अली बारिद द्वितीय को अपना बंदी बना कर बीजापुर को अपने राज्य में मिला लिया। १६५६ में औरंगज़ेब ने बीदर के किले को घेर लिया और काफी कठिन संघर्ष के बाद उसे आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य किया। इसके बाद तुरंत उसने बीदर को मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

बीदर का प्रमुख आकर्षण उसके शान्दार मकबरे हैं। ये मकबरे बहमनी और बारिद सुलतानों की कब्रों पर बने हैं। इसके सिवा अन्य सुन्दर इमारतें भी हैं जो स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना हैं। सुयोग्य राजनीतिज्ञ महमूद गवन की बनवाई मसजिद तथा दूसरी इमारतें अपना विशेष महत्व और आकर्षण रखती हैं।

गोलकुण्डा

गोलकुण्डा की सलतनत सुविस्तृत और खनिज पदार्थों की दृष्टि से सम्पन्न थी। हैदराबाद से सात मील दूर मूसी के उत्तरी तट पर, एक चट्टानी पहाड़ी पर गोलकुण्डा का किला बना है। यह किला चारों ओर मज़बूत दीवारों से घिरा हुआ है। इन दीवारों के भीतर ही किसी समय गोलकुण्डा नगर बसा था।

गोलकुण्डा की कुतुबशाही का संस्थापक बहार-उल-तुर्क सुलतान कुली था। अन्तिम बहमनी सुलतान के शासन-काल में वह बहुत शक्तिशाली हो गया और गोलकुण्डा की जागीर, तैलंगाना की सूबेदारी और कुतुब-उल-मुल्क का खिताब प्राप्त किया। १५१२ में कुतुब-उल-मुल्क ने, जो पिछले कई साल से प्रायः

स्वतंत्र सा ही था, अपने को गोलकुण्डा का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया और सुलतान कुली कुतुबशाह का खिताब धारण किया। गोलकुण्डा में उसने मज़बूत किला बनवाया और शिताबखाँ से, जिसने वारंगल और कृष्णा के दोनों ओर के पड़ोसी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जम कर युद्ध किया। शिताबखाँ सम्भवतः हिन्दू से मुसलमान बना था और १५०४ के लगभग वारंगल का स्वतंत्र शासक बन गया था।*

परवर्ती शासक

इब्राहीम कुतुबशाह (१५५०-८०) के शासन-काल में वारंगल स्थायी रूप से गोलकुण्डा में मिला लिया गया। स्वयं कुली कुतुबशाह ने विजयनगर, बीजापुर और बीदर के शासकों से युद्ध कर राज्य की सीमाओं को उत्तर में गोदावरी तक विस्तृत कर लिया था। १५४३, में उसके पुत्र के इशारे पर, उसकी हत्या कर दी गई। इब्राहीम ने, जो इस वंश का चौथा सुलतान था, विजयनगर के राय के विरुद्ध मुस्लिम गुट्ट का निर्माण किया जिसके फल स्वरूप तालिकोट का युद्ध हुआ। उसके पुत्र महमूद कुली (१५८०-१६१२) ने गोलकुण्डा के किले का और विस्तार किया और अपने रहने के लिए राजनगर हैदराबाद का निर्माण किया जो उस काल में भाव नगर नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह नाम उसकी हिन्दू प्रेयसि भावमति के नाम पर रखा गया था।

अब्दुल्ला कुतुबशाह (१६२६-७२) ने गोलकुण्डा के किले में अनेक सुधार किये। दक्खिन में मुगल सत्ता के प्रसार को रोकने में उसने विशेष योग नहीं दिया—इतना ही नहीं उसने शाहजहाँ को, उस समय जब शाहजादा की हैसियत में उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दक्खिन में शरण ली थी, आमंत्रित तक किया। १६३५ में उसने मुगल सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। सुलतान अपने शक्तिशाली वज़ीर अमीर जुमला के प्रति ईर्ष्यालु हो उठा। वज़ीर ने औरंगज़ेब से सहायता की याचना की। औरंगज़ेब तब दक्खिन में मुगल-वाइसराय था (१६५५)।

---

*देखिए "शिताबखाँ आफ वारंगल, हैदराबाद आर्कयोलाजिकल सीरीज़, नम्बर ६

इस निमंत्रण को बहाना बना कर औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा पर आक्रमण कर दिया। हैदराबाद को उसने लूटा और अब्दुल्ला को अब तक रुके हुए नजराने की समूची रकम अदा करके, शान्ति करने के लिए बाध्य किया। अब्दुल्ला के बाद उसका चचाज़ाद भाई सिंहासन पर बैठा। उसका नाम अबुलहसन था। तानाशाह नाम से भी वह प्रसिद्ध हुआ। लम्बे घेरे के बाद औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा पर १६८७ में अधिकार कर लिया और तानाशाह औरंगज़ेब का बंदी हो गया। इस प्रकार कुतुबशाही का अन्त हो गया।

अहमद नगर

अहमद नगर की निज़ामशाही सल्तनत की स्थापना निज़ाम-उल-मुल्क ने की थी। निज़ाम-उल-मुल्क, महमूद गवन के बाद, वज़ीर बनाया गया था। उसके योग्य पुत्र मलिक अहमद ने अहमद नगर बसाया था। १४९९ में दौलताबाद के किले पर आधिपत्य करके उसने अपनी स्थिति को और भी दृढ़ बना लिया था। १५०८ में उसकी मृत्यु हो गई।

किनकेड ने लिखा है "यह असम्भव है कि अहमद नगर की निज़ामशाही के संस्थापक की महान प्रतिभा और ऊँचे व्यक्तित्व की हम सराहना न करें। यद्यपि उसके पूर्वज ब्राह्मण थे, फिर भी वह हर मुसलमान सेनापति से जिसके विरुद्ध वह लड़ा, श्रेष्ठतर सिद्ध हुआ। निरंकुश सत्ता का स्वामी होते हुए भी वह संयमी और विनयशील था। यद्यपि उसकी गिनती बहादुर से बहादुर व्यक्तियों में होती थी, फिर भी उसने अपने को इतनी अधिक गलतियों में फँसने और अधीन अफसरों की बुज़दिली का अपने को शिकार होने दिया कि इसकी दूसरी मिसाल मिलना कठिन है। जो भी हो, यह कहना पड़ेगा कि शिवाजी को छोड़कर कोई दूसरा भारतीय शासक नहीं मिलेगा जिसके अफसरों ने इतने अच्छे ढंग से अपने स्वामी का साथ दिया हो।"*

परवर्ती शासक

अहमद निज़ाम शाह के बाद उसका पुत्र बुरहान निजाम शाह

* किनकेड—"ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल" खण्ड १, पृष्ठ ८९

गद्दी पर बैठा (१५०९-१५५३)। १५२४ में, बीजापुर के युद्ध में, उसे पराजित होना पड़ा; किन्तु बाद में उसने इस पराजय पर सफलता पाई और शोलापुर तथा पड़ोसी जिलों को, जिन पर बहुत दिनों से उसकी दृष्टि थी, अपना अधिकार कर लिया। शाह ताहिर के प्रभाव से उसने शिया-मत अङ्गीकार कर लिया था। इस मत-परिवर्तन के कारण प्रायः समूचे राज्य के, हाथ से निकलने की नौबत आ गई। उसके पुत्र हुसेन निज़ामशाह को गोलकुण्डा के सुलतान के साथ गठ बन्धन करके विजय नगर और बीजापुर के शासकों ने अपमानित किया। अपनी ही राजधानी में इस गुट्ट ने उसे बन्दी बना लिया। किन्तु इस गुट्ट में ही फूट पड़ गई जिसके फलस्वरूप विजय नगर अलग हो गया और मुसलमान शासकों का एक गुट्ट बन गया। इसके बाद तामिलकोट के युद्ध में हुसेन ने भाग लिया और विजय नगर के रामराय को पकड़ कर मरवा डाला। इस विजय के बाद शीघ्र ही, १५६५ में, उसकी मृत्यु हो गई।

उसके पुत्र मुर्तज़ा निज़ामशाह के शासन-काल में बरार राज्य से निकल गया। मुर्तज़ा पागल हो गया और उसके पुत्र ने ही उसे मरवा डाला। इसके बाद अराजकता और शिया-सुन्नियों के गहरे संघर्ष का काल शुरू हुआ। इस संघर्ष ने अकबर को अहमद नगर के मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान किया। अकबर ने मुर्तज़ा के जलावतन भाई बरहान निज़ाम शाह को अपनी शरण में ले लिया था। अहमद नगर के बाद के दिनों का इतिहास मुगलों से दीर्घ संघर्ष का इतिहास है। अकबर के काल में इसे गहरा धक्का लगा, किन्तु वह भी इस पर पूरी तरह अपना आधिपत्य नहीं जमा सका। यह काम उसके उत्तराधिकारियों में से शाहजहाँ ने, १६३७ में इसे मुगल सल्तनत में मिलाकर पूरा किया।

बीजापुर

बीजापुर और यहाँ की आदिलशाही का विवरण बहमनी इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्व का स्थान रखता है। दक्खिन और करनाटक की नदियों की-क्रीड़ा भूमि के शिरस्थान पर बीजापुर स्थित है। यह बहुत ही स्वास्थ्यप्रद स्थान है। बहमनियों के शासन में सूबेदारी का गद्दी यहीं रहती थी।

यूसुफ आदिल शाह (१४६०-१५१०) ने बीजापुर के राज्य की स्थापना की थी। यूसुफ जनप्रिय शासक था। हिन्दुओं के साथ वह उदारता का व्यवहार करता था। खुद भी वह बहुत योग्य था और हिन्दुओं को विश्वास के पदों पर रखता था। मराठी को उसने हिसाब-किताब और स्थानीय व्यापार की भाषा बना दिया था। बीजापुर के किले को बनवाया था। काफी विरोध के होते हुए भी उसने शिया-मत के प्रचार में सफलता प्राप्त की, किन्तु अन्त में यह विरोध इतना बढ़ा कि उसे भाग कर बरार में शरण लेनी पड़ी।

पुर्तगोज़ों के हाथ से उसने गोआ को छीनने का प्रयत्न किया, मगर सफल न हो सका। ये लोग पश्चिमी तट पर आकर बस गए थे। उसके बाद उसका पुत्र इस्माइल आदिल शाह (१५१०-३४) सिंहासन पर बैठा और उसने भी अपने पिता का अनुसरण किया। उसके बाद इब्राहीम आदिल शाह प्रथम गद्दी पर बैठा। उसके दुर्व्यसनों और मूर्खताओं ने बीजापुर की प्रतिष्ठा को नीचा गिराने में योग दिया। उसने सुन्नी-मत की फिर से स्थापना की और मराठी की जगह फारसी को अपने राज्य की भाषा बना दिया। उसके काल में विजय नगर में दलबन्दियाँ चल रही थीं। एक दल के कहने पर इब्राहीम ने विजय नगर पर चढ़ाई कर दी और बहुत से उपहार उसके हाथ लगे। १५५७ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद अली आदिलशाह सिंहासन पर बैठा। तालिकोट का सुप्रसिद्ध युद्ध उसी के शासन-काल में हुआ (१५६५)।

तालिकोट का युद्ध

इस युद्ध की रचना करनेवाली घटनाएँ संक्षेप में ये हुईं। आदिलशाह ने विजय नगर के कर्ताधर्ता रामराय से, अहमद नगर की प्रतिद्वन्दी सल्तनत से लोहा लेने के लिए, गठबंधन कर लिया था। इस गठबन्धन के बाद अहमद नगर के मुसलमानों के प्रति रामराय ने इतना अनुचित दम्भपूर्ण रुख धारण किया कि अली आदिल-शाह भी उससे छिटक कर अलग हो गया। इसके बाद बीजापुर, अहमद नगर, बीदर और गोलकुण्डा के चारों सुलतानों ने अपनी

संयुक्त शक्ति से आक्रमण किया और तालिकोट के निकट रामराय को पराजित कर दिया। राय बन्दी बना लिया गया और उसका सिर काट लिया गया। इस युद्ध के फलस्वरूप महान हिन्दू साम्राज्य का पतन हो गया जिसका संक्षिप्त विवरण हम अगले परिच्छेद में देने का प्रयत्न करेंगे।

इस युद्ध के बाद बीजापुर और गोलकुण्डा की सीमाओं में काफी विस्तार हो गया। मुसलमान सल्तनतों ने अब अनुभव किया कि आपसी एकता का फल कितना अच्छा होता है। विजय नगर के बाद उन्होंने अब अपनी संयुक्त शक्ति का प्रयोग पुर्तगीज़ों के विरुद्ध करने का निश्चय किया।

पुर्तगीज़ों ने गोआ पर अधिकार कर लिया था। गोआ के बन्दरगाह से होकर ही मुसलमान मक्का जाते थे। इसलिए उस पर अपना आधिपत्य करने के लिए वे बहुत उत्सुक थे। बीजापुर और अहमद नगर की संयुक्त सेनाएँ गोआ के मोर्चे पर जाकर डट गईं और दस महीने तक घेरा डाले रहीं, मगर नतीजा कुछ नहीं निकला। गोआ पर पुर्तगीज़ों का आधिपत्य खण्डित नहीं हो सका।

इब्राहीम आदिल शाह

१५७९ में अली आदिल शाह की मृत्यु हो गई—कहते हैं कि एक खोजा ने उसकी हत्या कर दी। अली आदिल शाह ने पेनुकोन्द तक के दक्षिणी प्रदेश पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने बीजापुर की चहारदीवारी के निर्माण-कार्य को पूरा किया और बड़ी जुमा मस्जिद भी बनवाई। उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम आदिल शाह पड़ोसी राज्यों से पूर्ववत युद्ध जारी रखा और १६०३ में अकबर के यहाँ राजदूत प्रेषित किया। उसी के साथ अहमद नगर और बीजापुर के स्वतंत्र अस्तित्व और स्वतंत्र इतिहास का अन्त हो गया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक गुप्त संधि की गई जिसके द्वारा बीजापुर की तो रक्षा कर ली गई और अहमद नगर पर आक्रमण करने के लिए मुगलों को छूट दे दी गई।

अकबर और उसके पुत्र के शासन-काल में मुगलों ने बीजापुर

शान्ति भङ्ग नहीं किया। १६२६ में इब्राहीम आदिल शाह की मृत्यु हो गई। वीडोज़ टेलर के शब्दों में "वह आदिलशाही वंश में सबसे महान सुलतान था। केवल संस्थापक को छोड़ कर वह शेष सबसे अधिक योग्य और अधिक जनप्रिय था।" मालगुज़ारी और बन्दोबस्त में उसने कई सुधार किया। इस मामले में उसने, कुछ संशोधनों के साथ, राजा टोडरमल की पद्धति का ही अनुसरण किया था। यद्यपि वह सुन्नी था, परन्तु अन्य मतावलम्बियों के साथ उदार व्यवहार करता था। मराठे और ब्राह्मणों को उसने मुक्त हृदय से उपयुक्त पदों पर नियुक्त किया। गोआ के पुर्तगीज़ों से उसका व्यवहार मित्रतापूर्ण था। ईसाई प्रचारकों को भी उसने संरक्षण प्रदान किया था। अपनी राजधानी में अनेक सुन्दर इमारतें बनवाईं। उसकी मृत्यु के बाद इस वंश के महत्व का भी अन्त हो गया। उसके उत्तराधिकारियों का इतिहास दक्खिन पर मुगलों की क्रमिक विजय का इतिहास है। १६८६ में औरंगजेब ने निश्चयात्मक रूप से इसे मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

सार तत्व

बहमनी वंश का चरित्र-चित्रण करते हुए डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने लिखा है कि यह ठीक-ठीक बताना कठिन है कि इस वंश की भारत को क्या देन है या उससे भारत को किस रूप में लाभ पहुँचा है।

डाक्टर स्मिथ की यह राय सही मानना चाहिए, कम से कम इतना तो मानना ही चाहिए कि वह अतिरंजित नहीं है। दक्खिन की सल्तनतों का इतिहास षड्यन्त्रों और लड़ाइयों की एक लम्बी कहानी है और इस कहानी के बीच ऐसे कृत्यों का प्रायः अभाव दिखाई देता है जिन्हें हम शुभ भावनाओं से प्रेरित तथा अनुप्राणित कह सकें। उस काल में प्रचलित साधारण नैतिकता के अनुसार भी हिन्दुओं के साथ, जो प्रजा का अधिकांश भाग थे, अत्यधिक क्रूर व्यवहार होता था और उन्हें सीमाहीन अत्याचार का शिकार होना पड़ता था। किसान उपेक्षित और दुःखी जीवन बिताते थे। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का भावना

प्रेरित युद्धों में निहत्थी जनता को, सामूहिक रूप से, कत्ल कर दिया जाता था।

षड्यन्त्रों, शाही महल की क्रान्तियों, सम्प्रदायगत झगड़ों से इस काल के इतिहास के अधिकांश पन्ने भरे हुए हैं। दक्खिन का राजनीतिक-क्षितिज काले बादलों से घिरा हुआ दिखाई देता है। लेकिन, इन काले बादलों में भी, ऐसा नहीं है कि प्रकाश की किरण प्रकट न होती रही हों। बहमनी वंश के संस्थापक ने जिस योग्यता और क्षमता का परिचय दिया, हत्या को प्राप्त वज़ीर महमूद गवन ने जिस बुद्धिमानी से माल गुज़ारी की व्यवस्था की, वे रेगिस्तान में जलाशय के समान महत्व रखती हैं। मीडोज़ टेलर के शब्दों में—'शिक्षा के मामले में: उस काल को देखते हुए, बहमनी सुलतान उदार थे। छोटी-छोटी और बहुत कुछ अनगढ़-सी मस्जिदें प्रायः सभी प्रमुख गाँवों और मण्डियों में बनवाई गईं और गाँवों की तत्कालीन व्यवस्था का अंग बन गईं। हर मस्जिद में एक मुल्ला नियुक्त किया जाता था जो शिक्षक का भी काम करता था। काज़ी तथा दूसरे उच्च अधिकारी समूची व्यवस्था का निरीक्षण करते थे। प्रमुख नगरों में मकतब खोले गए जिन्हें राज्य की ओर से ऐसी सहायता देने का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार फारसी या अरबी पढ़ने वालों के लिए मुफ्त में सब सुविधाएँ उपलब्ध थीं। दकन के अधिकांश गाँवों पर ऐसी व्यवस्था आज दिन तक कायम है। हिन्दुओं का साहित्य संस्कृत में था और संस्कृत के पण्डितों, ब्राह्मणों, तक सीमित था। तैलंगाना में पुराने हिन्दू राजाओं ने आबपाशी की जो व्यवस्था की उसी पद्धति का मुसलमान सुलतानों ने उदारता और लगन के साथ अनुसरण किया। उनके बनवाए हुए कितने ही जलाशय आज भी मौजूद हैं। इन सब बातों को देखते हुए दक्खन पर मुसलमानों के प्रभुत्व को सर्वथा बंजर और अच्छे प्रभावों से शून्य नहीं कहा जा सकता।"*

आबपाशी के क्षेत्र में, विशेष कर तैलंगाना में, काफी बड़े पैमाने पर काम किया गया। इससे राज्य की आय में भी वृद्धि हुई।

---

* हिस्ट्री आफ इण्डिया (नया संस्करण) पृष्ठ १८६।

इस आमदनी के भरोसे पर ही बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखी जाती थीं जो "सशस्त्र भीड़ के समान होती थीं और निहत्थे किसानों को हज़ारों की संख्या में कत्ल करने के लिए तो टूट पड़ती थीं, मगर वास्तविक युद्ध में बेहद निकम्मी सिद्ध होती थीं।"

जन साधारण का जीवन अच्छा नहीं था। १४७० और १४७४ के बीच एक रूसी सौदागर अथनासियस निकितिन दकन में काफी घूमा था। जनता के दुखी जीवन का उसने पर्याप्त वर्णन किया है—"आबादी बुरी तरह बढ़ी हुई है। किसानों का बुरा हाल है, जो अमीर हैं वे ऐयाशियों में डूबे रहते हैं।"*

मुनकिरों पर जज़िया कर लगा दिया गया था। जो इससे बचना चाहते थे, उन्हें इसलाम धर्म अंगीकार करना पड़ता था।

शिक्षा संबंधी उन्नति

दक्खिन के कुछ सुलतानों ने शिक्षा और ज्ञान के प्रसार को भी प्रोत्साहित किया; किन्तु यह प्रोत्साहन, स्वभावतः, मुल्लाओं को मिलता था, पंडितों को नहीं। बड़े नगरों और राजधानियों में ब्राह्मणों की संस्थाओं को भी दमन का शिकार होना पड़ता था या सहायता के अभाव में वे पनप नहीं पाती थीं। नगरों को छोड़ कर पण्डितों ने सुदूर गाँवों के एकान्त में शरण ली और मरघट-ऐसी शान्ति के साथ काम करते रहे। मुस्लिम आदर्शों के अनुसार उच्च शिक्षा को बराबर प्रोत्साहन और मदद मिलती रही। महमूद गवन ने इस दिशा में अच्छा काम किया।

स्थापत्य

दक्खिनी सुलतान महान निर्माता थे। गवीलगढ़ और नरनाल के पहाड़ी किलों के उपयुक्त डिज़ाइन की श्रेष्ठता की दृष्टि से बहुत शानदार माने जाते हैं। सैनिक दृष्टि से औसा और परेन्न के किले अपना विशेष महत्व रखते हैं। सैनिक स्थापत्य की कला बहुत कुछ विदेशी थी। उनकी कितनी ही यादगारें,—जैसे बीदर में महमूद गवन का बनवाया हुआ मकतब और गुलबर्ग की जामा मस्जिद

---

* वी० ए० स्मिथ की आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ २९२ पर उदधृत।

फारस की कला का नमूना हैं। गुलबर्ग और बीदर में सुलतानों ने शाही इमारतें बनवाईं। आदिल शाही सुलतानों की बीजापुर में जो इमारतें बनी हैं भारत में उनका दूसरा जोड़ नहीं है। इस काल की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि कई अच्छे इतिहासकार, इतिवृत्त लेखक, प्रकट हुए—मुहम्मद कासिम उपनाम फरिश्ता इसी काल की देन है। वह महान है, यद्यपि पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। प्रस्तुत परिच्छेद की अधिकांश सामग्री के लिए हम उसी के ऋणी हैं।

नवाँ परिच्छेद

विजयनगर का राज्य

हम देख चुके हैं कि अलाउद्दीन के काल में मलिक काफूर के भारी आक्रमण ने दक्खिन के हिन्दू राज्य की नीव तक हिला दी थी। इसके बाद मुहम्मद बिन तुगलक की निरंकुशता ने दक्षिण के हिन्दू शासकों के हृदय में मुसलमानों के प्रति जो बुरी से भी बुरी आशंकाएँ थीं, उन्हें सत्य ही सिद्ध किया। राबर्ट सेवेल के शब्दों में--"हर चीज़, अनिवार्य रूप से, एक ही दिशा की ओर जाती प्रतीत होती थी—हिन्दू सूबों के विनाश की ओर, उनके पुराने राज-कुलों के विनाश की ओर, उनके धर्म, मन्दिर और नगरों के विनाश की ओर—हर चीज़ जिसे दक्षिण के निवासी सबसे अधिक चाहते थे, धूल में मिलती जा रही थी।"*

इस महान सकंट से दक्षिण भारत की पाँच भाइयों की शक्ति और प्रतिभा ने रक्षा की—हरिहर और बुक्का और उनके तीन अन्य छोटे भाई। ये संगम नामक किसी व्यक्ति के पुत्र थे और सम्भवतः उस समय जब कि मुसलमानों ने १३२३ में नारंगल का घेरा डाला था, ये वहाँ से निकल भागे थे। नूनिज़ नामक एक युरोपीय यात्री के वर्णन के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक ने हरिहर को तुंगभद्रा के उत्तरी तट पर स्थित मज़बूत गढ़ अनागुंडी का प्रधान बना दिया था।† किन्तु अपनी स्थिति सुरक्षित न देख हरिहर ने अपने भाई बुक्का के साथ नदी को पार कर १३३६ में एक नये नगर की स्थापना की। इस नये नगर का नाम उसने विजयनगर रखा। इस नगर की स्थिति बहुत ही अच्छी थी। एक अभिलेख के शब्दों में—"हेमकूट इसके लिए परकोटे का काम करता था, तुंगभद्रा खाई का काम देती थी इसका रक्षक विश्व-रक्षक विरूपाक्ष, और शासक राजाओं का राजा हरिहर था।"‡

---

* सेवेल—'ए फारगौटन एम्पायर, पृष्ठ ५

† उपर्युक्त, पृष्ठ ७

‡ "ए हिस्ट्री आफ इण्डिया," भाग १, पृष्ठ ३४२

गुरु विद्यारण्य, हरिहर और बुक्का

गुरु माधव या विद्यारण्य दक्षिण में हिन्दूधर्म को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील था। उसने यह स्पष्ट रूप से देख और समझ लिया था कि अगर मुसलमान कृष्णा के दक्षिण की ओर बढ़े तो हिन्दू संस्कृति का नाश हो जाएगा। विजयनगर के संस्थापक भाइयों को उससे सहायता मिली। इस प्रकार दक्षिण में विजयनगर की स्थापना हिन्दू जाति और धर्म के पुनरुद्धार का प्रतीक हो गई।*

बुक्काराय का शासन

१३४३ में हरिहर का स्वर्गवास हो गया और नवस्थापित राज्य को संघटित करने का कार्य बुक्काराय के कंधों पर पड़ा। दक्षिण के अधिकांश राजाओं ने बुक्का की एकछत्रता को स्वीकार कर लिया। फलतः उसे अपने राज्य की सीमाओं को सागर से सागर तक विस्तृत करने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। किन्तु उसे सबसे बड़ा काम उत्तर में करना था जहाँ बहमनी सुलतानों की सत्ता स्थापित थी। जैसा कि पिछले परिच्छेद में वर्णन कर चुके हैं, इन दोनों में गहरे संघर्ष हुए। इन संघर्षों का कारण रायचूर के सम्पन्न और उपजाऊ दोआब को अपने आधिपत्य में रखना था।†

बुक्का के पुत्र राजकुमार काम्पन ने कांजीवरम के आसपास के

---

* विजयनगर राज्य की स्थापना का उद्देश्य दक्षिण में मुसलमानों के प्रवेश और विस्तार को रोकना ही नहीं था, वरन् विदेशियों के आक्रमणों से हिन्दूधर्म की रक्षा करना भी था। सुविख्यात दोनों भाइयों के साथ माधवचार्य और सायण के नेतृत्व में विद्वानों की एक संस्था, बुक्काराय के संकेत पर, वैदिक धर्म पर काम करने के लिए नियुक्त कर दी गई। बुक्काराय का एक अन्य मंत्री और सेनापति था। उसका नाम भी माधव था। उसे उपनिषदों के पथ का प्रदर्शक कहा जाता है। देखिए "सोर्सेज़ आफ विजयनगर हिस्ट्री" की भूमिका, लेखक, ए० आर० सरस्वती।

† बुक्का प्रथम ने १३४३ से १३७७ ईसवी तक शासन किया था। इस काल में तीन बहमनी सुलतान थे—अलाउद्दीन प्रथम, मुहम्मद प्रथम और मुजाहिद (१३४७-१३७८)

प्रदेश के सरदारों को अपने वश में किया और मदुरा के सुल्तान की सत्ता का नाश करने में सफलता प्राप्त की। अपने महान आक्रमण के बाद मलिक काफूर ने मदुरा में सूबेदारी स्थापित की थी जिसने सलतनत का रूप धारण कर लिया। मदुरा के सुलतान ने अन्तिम होयसाल नरेशों से जिनका राज्य त्रिचनापली के सीमावर्ती प्रदेश में स्थापित था निरन्तर संघर्ष जारी रखा। अन्तिम होयसाल नरेश वीर बल्लाल मदुरा के मुसलमानों के साथ युद्ध में १३४२-४३ में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी का भी उतनी ही तेज़ी के साथ लोप हो गया। इस होयसाल राज्य के खंडहरों की नीव पर ही संगम के पुत्रों, इन पाँचों भाइयों ने, अपने स्वतंत्र शासन की स्थापना की और इस प्रकार होयसालों की थाती को संभाला,—एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उसका विकास किया। काम्पन ने श्रीरंगम और मदुरा के महान मन्दिरों में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा की और तामिल देश में हिन्दू धर्म को फिर से प्रारम्भिक रूप में स्थापित किया। १३७७-८ ईसवी में मदुरा की सलतनत के विनाश के बाद ही विजयनगर के राय एकच्छत्र उपाधि धारण कर सके।*

हरिहर द्वितीय

बुक्का के बाद हरिहर सिंहासन पर बैठा। सबसे पहले उसी ने (१३७७-१४०४) महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसके काल का बहमनी सुलतान मुहम्मद शाह शान्तिप्रिय शासक था। फलतः हरिहर को दक्षिण में अपने पूर्वजों का कार्य सम्पन्न करने का निर्विघ्न अवसर मिला। मैसूर, धारावार, कांजीवरम, चिंगल-पट और त्रिचनापली को उसने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। मदुरा के पाण्डय प्रदेश पर उसके सेनापतियों ने विजय प्राप्त कर ली थी और यहाँ प्राचीन पाण्डय राजकुल को फिर से स्थापित कर दिया गया था। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में हरिहर ने मुसलमानों को गोआ से खदेड़ दिया था। उसका प्रधान मंत्री विद्वान सायण था जिसने वेदों पर सुप्रसिद्ध भाष्य लिखा है।

* एस० कृष्णास्वामी आयंगर—"साउथ इण्डिया एण्ड हर मुसलमान इन्वेडर्स" पृष्ठ १७०—१८८।

यह स्वयं शैव था-विरूपाक्ष के रूप में शिव की उपासना करता था। किन्तु दूसरे मतों के प्रति उसके हृदय में उदारता का भाव था। उसके पुत्र ने नासमझी के कारण दोआब पर आकस्मिक आक्रमण किया। उसका जो नतीजा हुआ, वह हम बहमनी सुलतान फीरोज़ के प्रसंग में पहले लिख चुके हैं। अगस्त १४०४ में हरिहर का स्वर्गवास हो गया।

देवराय

इसके बाद देवराय प्रथम (१४०६-१४२२ ईसवी) सिंहासन पर बैठा। मुकदल की निहाल* के प्रति उसके अंध प्रेम ने फीरोज़शाह बहमनी के साथ गहरे युद्ध को जन्म दिया। इस युद्ध में विजयनगर के राय को भारी अपमान सहना पड़ा और, एक इतिवृत्त के अनुसार, राय को अपनी कन्या का विवाह बहमनी सुलतान के साथ करना पड़ा। साथ ही, दहेज़ के रूप में, बांकपुर भी हाथ से निकल गया। किन्तु इस विवाह के बाद भी इन दोनों शत्रु राज्यों में स्थायी शान्ति का सम्बंध स्थापति नहीं हो सका। १४१७ में फिर इन दोनों में युद्ध हुआ जिसमें देवराय की विजय हुई। फीरोज़ के साथ कन्या का विवाह करने की बात का इस काल के अभिलेखों से पोषण नहीं होता।†

वीर विजय (१४२२-४)

वीर विजय देवराय प्रथम के बाद सिंहासन पर बैठा। वह इतना शक्तिहीन नहीं था जितना कि उसे बताया जाता है। अपने पुत्र देवराय द्वितीय को उसने अपना सह-शासक बना लिया था। इन दोनों को सुलतान अहमद शाह के तीव्र आक्रमण का सामना करना पड़ा। अहमदशाह ने विजय नगर के चारों ओर घेरा डाल लिया था। काफी नरसंहार और विनाश के बाद, भारी लूट और नज़राना लेकर, अहमद शाह वापिस लौटा।

देवराय द्वितीय ने, इसके बाद, दीर्घकाल. तक (१४४६ ईसवी तक) शासन किया। १४३५ में उसने बहमनी आक्रमण को विफल

---

*फरिश्ता ने उसका नाम परताल बताया है।

†मैसूर गजेटियर, संशोधित संस्करण, खंड २, भाग ३, पृष्ठ १५४९

किया। इसके फलस्वरूप काफी बड़ी संख्या में उसने मुसलमान सैनिकों को अपने यहाँ रख लिया और उन्हें अपने धर्म का पालन करने की पूरी छूट दी।

उसके शासन का महत्व इसलिए भी है कि उसके काल में ही इटली के निकोलो कौराटी और हैरात निवासी अब्दुल रज्ज़ाक यहाँ आए थे। विजयनगर और उसके महाराजा के सम्बन्ध में जानकारी के लिए हम उनके वर्णनों के ऋणी हैं।

निकोलो कौण्टी

देवराय द्वितीय के सिंहासन पर बैठने के कुछ काल बाद ही निकोलो कौराटी यहाँ आया था। विजय नगर को देख कर वह बहुत प्रभावित हुआ। इस नगर की उसने काफी प्रशंसा की है। उसके अनुसार यह नगर ६० मील की परिधि में बसा हुआ था। बहु विवाह का और सती प्रथा का, जो उस काल में बुरी तरह प्रचलित थी, उसने उल्लेख किया है। उसके शब्दों में "विजय नगर का महाराजा भारत के अन्य सभी राजाओं से अधिक शक्तिशाली था। उसके १२,००० पत्नियाँ थीं जिनमें से चार हज़ार, जहाँ भी वह जाता था, उसके पीछे-पीछे पैदल चलती थीं। इनका काम केवल महाराजा की पाकशाला की देख भाल करना होता था। लगभग इतनी ही रानियाँ, जो कुछ अधिक सुसज्जित होती थीं, घोड़े पर सवार होकर चलती थीं। शेष रानियाँ पालकियों में चलती थीं। इनमें से दो-तीन हज़ार के साथ यह शर्त होती थी कि महाराजा के मरने पर वे, स्वेच्छा से, सती हो जाएँगी।"

इटालियन यात्री ने कितने ही उत्सवों और त्योहारों का भी अच्छा वर्णन किया है। उस काल में प्रचलित रीति-रिवाजों और अंधविश्वासों पर भी उसने अच्छा प्रकाश डाला है। गोलकुण्डा की हीरे की खदानों, तत्कालीन मुद्राओं और युद्ध के विचित्र अस्त्र-शस्त्रों का भी उसने वर्णन किया है। दासप्रथा का भी उन दिनों चलन था। जो कर्ज नहीं दे पाते थे, वे दास बना लिये जाते थे। सेना में दस लाख या इससे भी अधिक सैनिक होते थे।

अब्दुल रज्ज़ाक

बीस वर्ष बाद, देवराय के दरबार में, अब्दुल रज्ज़ाक आया। फारस की ओर से कालीकट के ज़मोरिन और देवराय के दरबार में राजदूत की हैसियत से वह आया था। उसने नगर का विस्तृत रूप में वर्णन किया है। नगर की किलेबन्दी, इमारतों, बाज़ारों, शान-व-शौकत और सम्पन्नता का उल्लेख उसके वर्णनों में मिलता है।

अब्दुल रज्ज़ाक ने लिखा है—"विजय नगर एक ऐसा शहर है जिसका सानी पहले कभी नहीं देखने में आया, न कभी यह सुना कि इस तरह का कोई दूसरा शहर दुनिया में और कहीं भी है।"

देवराय के शासन-काल की एक घटना का अब्दुल रज्जाक ने उल्लेख किया है। इस घटना से पता चलता है कि निर्दोष लोगों का रक्त बहाना न केवल बहमनी सुलतानों के लिए साधारण बात थी, वरन् कुछ हिन्दू राजा भी इस दिशा में पीछे नहीं थे। रज्जाक के इस वर्णन से पता चलता है कि किस प्रकार देवराय के भाई ने, सिंहासन पर अपना अधिकार जमाने के लिए, स्वयं महाराजा की जान लेने का घातक प्रयत्न किया था (१४४२-३)।*

* उसने एक नये घर का निर्माण किया और उसमें महाराजा को आमंत्रित किया। साथ ही उसने सभी प्रमुख सरदारों को भी निमन्त्रण भेजा। ये सब आए और इन्होंने, एक-एक करके, नये घर में प्रवेश किया। जैसे ही वे स्वागत वाले भवन में पहुँचते थे, वैसे ही छिपे हुए हत्यारे उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे। किसी की चीख-पुकार न सुनाई पड़े, इसलिए तुरही आदि बराबर बजती रहती थीं। जब महाराजा से अनुरोध किया गया तो उसने तबीयत ठीक न होने से भीतर जाना अस्वीकार कर दिया। लेकिन भाई फिर भी नहीं चूका और उसने अपनी तलवार महाराजा के शरीर में घुसेड़ दी। महाराजा बेसुध होकर गिर पड़े। इसके बाद जब उसने अपने को महाराजा घोषित किया तो देवराय ने, जो अब सचेत हो गए थे, चिल्लाकर उसे मृत्यु दंड देने का आदेश दिया। स्तम्भित अंग-रक्षकों ने तुरत उसे पकड़ कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। [देखिए मैसूर गजेटियर, खंड दो, भाग ३, पृष्ठ १५७४-८; और इलियट एण्ड डौसन, खंड ४, पृष्ठ १०३ भी देखिए]

राय की हत्या के प्रयत्न के बाद शीघ्र ही, १४४३ ईसवी में, एक बार फिर बहमनी आक्रमण हुआ। इस युद्ध में राय का ज्येष्ठ पुत्र मारा गया। इसी समय सिंहल पर आक्रमण होने का भी उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः सिंहल द्वीप के उत्तरी भाग पर, जिसे गत शती में प्राप्त कर लिया था, फिर से विजय पाने के लिए किया गया था।

इस काल में कन्नड़ साहित्य की विशेष उन्नति हुई। कन्नड़ 'भारथ' के रचयिता कुमार व्यास तथा अन्य कई कवि और लेखक इस काल में हुए। लिंगायत सम्प्रदाय को राज्याश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त था, किन्तु अन्य सम्प्रदायों को भी फूलने-फलने का समुचित अवसर मिलता था। राज्य की नीति इस मामले में उदार थी। विदेशों से व्यापार विकसित अवस्था में था। पेगू से लालों, चीन से रेशम, मलाबार से दारचीनी, कपूर, मुश्क और मिर्च की राजधानी में काफ़ी खपत होती थी।

मल्लिकार्जुन और विरुपाक्ष (१४४६-८५)

देवराय के उत्तराधिकारी मल्लिकार्जुन और विरूपाक्ष के शासन का विवरण प्रायः दुर्लभ है। उनके बाद जो राजा सिंहासन पर बैठे वे शक्तिहीन थे। इस काल के सम्बन्ध में सेवेल ने लिखा है—"यह काल, असंदिग्ध रूप से, संकटापन्न था। इस काल के सम्बन्ध में निश्चयात्मक और सुरक्षित रूप में इतना ही कहा जा सकता है कि नरसिंह के सिंहासन च्युत होने के चालीस वर्ष पूर्व तक राज्य इस राजा से उस राजा के हाथ में जाता रहा। ये चालीस वर्ष राजनीतिक अव्यवस्था, असन्तोष और राजकुल के प्रति व्यापक रोष के वर्ष थे। इन वर्षों में राजकुल के कितने ही सदस्यों को हिंस्र रोष का शिकार होकर अपने प्राण देने पड़े।"*

दो अवसरों पर बहमनी सुलतान और उड़ीसा के गजपति राजा के संयुक्त आक्रमण हुए—एक तो मल्लिकार्जुन के सिंहासन पर बैठने के शीघ्र बाद ही और दूसरा १४६२ में। १४६२ में गजपति पूर्वी तट से कांची की ओर बढ़ आया और भारी उथल-पथल मचा दी। १४६९ में बहमनी सुलतान ने गोआ पर

* सेवेल—"ए फारगौटन एम्पायर", पृष्ठ ९७-८

अधिकार कर लिया। इस पर फिर से आधिपत्य जमाने के राय ने कई प्रयत्न किये, पर सफलता नहीं मिली। जो कसर रह गई उसे दो वर्षों के भारी अकाल ने पूरा कर दिया। अकाल की मुसीबत से लाभ उठाकर बहमनी सुलतान ने तैलंगाना की अपनी विजय को सम्पूर्ण कर लिया। १४८१ में बहमनी सुलतान ने आकस्मिक आक्रमण कर काँची को धूल में मिला दिया। नरसिंह ने प्रतिरोध किया, पर वह व्यर्थ सिद्ध हुआ। किन्तु कुछ इतिहासकार इसे संगत नहीं मानते। उनका मत है कि विरुपाक्ष के शासन-काल की अराजकता का सूत्रपात मल्लिकार्जुन के काल में ही हो गया था। फिर संगम-कुल के इन दो अन्तिम रायों के सम्बन्धों के बारे में भी काफी सन्देह है जो अभी तक दूर नहीं हो सका है।

सिंहासन पर प्रथम अधिकार चेष्टा (१४८५ ६)

सिंहासन पर नाजायज़ अधिकार करने का पहला प्रयत्न १४८५ और १४८६ ईसवी के बीच किया गया।* नरसिंह सलुवा जिसने प्रथम राजकुल की अन्तिम कड़ी को तोड़ा, चन्द्रगिरि का शक्तिशाली सामन्ती सरदार था। राज्य के सभी सामन्तों और सरदारों ने, उसकी योग्यता और राजकौशल से प्रभावित होकर, उसे अपना महाराजा चुन लिया।

जिस आशा और विश्वास के साथ सामन्तों ने उसे अपना राजा चुना था, उसे उसने शीघ्र ही पूरा कर दिखाया। दक्षिण में उसने अनेक विस्तृत विजय प्राप्त की जिसमें विजय नगर से मुक्त होने की भावना लक्षित होती थी। साथ ही इन विजयों का उद्देश्य गजपतियों और बहमनियों के आक्रमणों से राज्य की रक्षा करना भी था जो प्रथम राजकुल के अन्तिम क्षीण-राय नहीं कर पा रहे थे। कहा जाता है कि बाढ़ के दिनों में ही कावेरी को पार कर उसने राय को पराजित किया और सेरिंगपट्टम की स्थापना की। इस प्रकार उसने दक्षिण का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया।

---

* देखिए एस० के० आयंगर, "ए लिटिल नोन चैप्टर आफ विजय नगर हिस्ट्री", पृष्ठ ४७।

सलुवा नरसिंह का करनाट से तेलंगाना तक के समूचे प्रदेश पर अधिकार हो गया। मसुलिपट्टम तक के तटवर्ती प्रदेश पर उसका आधिपत्य विस्तृत था। प्राचीन होयसाल प्रदेश कांची पर अधिकार करने में उसे देर नहीं लगी। उदय गिरि और पेनुकोंद के किलों पर भी उसने अधिकार कर लिया। विजय नगर के मध्य तथा पूर्वी भाग में उसके अभिलेख सब कहीं मिलते हैं। साहित्य का वह बड़ा प्रेमी था। "जैमिनी भारतम्" उसी के नाम समर्पित है। १४८६ में उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और १४६७ ईसवी तक शासन करता रहा।

सिंहासन छीनने का दूसरा प्रयत्न

नरसिंह सलुवा के पश्चात् उसका पुत्र इम्मादी नरसिंह सिंहासन पर बैठा। किंतु उसे उसके सेनापति नरसा नायक तुलुवा ने सिंहासन-च्युत कर मार डाला और स्वयं राजा बन बैठा। यही सिंहासन छीनने की दूसरी घटना के रूप में प्रसिद्ध है। नरसा नायक ने अपने स्वामी को, जब उसने सिंहासन पर अधिकार किया था, सहायता दी थी। स्वामी की मृत्यु के बाद स्वयं उसने समूची राजसत्ता अपने हाथ में कर ली। दान-पत्रों में उसका नाम राजा के नाम के साथ-साथ, राजा की मृत्यु के समय १५०३ तक, मिलता है। वास्तव में सत्ता उसी के हाथ में थी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वह, राजा की मृत्यु के बाद भी, राजसत्ता का उपभोग करता रहा। १५०६ में उसकी मृत्यु हो गई। इसी काल में सुप्रसिद्ध इटालियन यात्री वार्थेमा आया था। उसने राजधानी का बहुत ही रोचक वर्णन किया है। उसके अनुसार यह एक बड़ा नगर था। सात मील की परिधि में यह बसा हुआ था। तीहरी दीवारों के परकोटे से सुरक्षित था और राजकीय उथल-पुथल का नगर की सम्पन्नता और वैभव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

इम्मादी नरसिंह के पश्चात नरसा नायक का पुत्र वीर नरसिंह सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार सलूवा-कुल का अन्त और तुलुवा कुल का प्रभुत्व पूर्णतया स्थापित हो गया। नरसा नायक (१४६८-१५०३) तेजस्वी, उत्साही और महत्वाकांक्षी शासक था।

साहित्य का वह प्रेमी था। वीर नरसिंह ने अपनी मृत्यु के समय १५०९ तक शासन किया। एक कहानी प्रचलित है कि अपनी मृत्यु से कुछ ही पूर्व उसने अपने छोटे भाई कृष्णदेव राय की हत्या का आयोजन किया था। अपने छोटे भाई से वह अत्यधिक ईर्ष्या करता था।

कृष्ण देव राय (१५०९-२९)

नरसा द्वारा संस्थापित रायकुल ने काफी ख्याति प्राप्त की। इस कुल का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कृष्णदेव राय (१५०९-२९) था। उसके जीवन और शासन का विवरण अनेक स्रोतों से उपलब्ध है। विशुद्ध युरोपीय वर्णनों के सिवा तेलुगू ग्रंथ राय वाचकम, कृष्ण देव राय विजयम, पारिजातपहरनम, मनुचरित्र और अमुक्तमाल्यद भी उपलब्ध हैं जो उस काल के राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय देते हैं। एक अन्य ग्रंथ रायवंशावली में कृष्णदेव राय की विजयों का उल्लेख मिलता है।

सत्ता ग्रहण करते ही राय कृष्णदेव ने सबसे पहले शान्ति और व्यवस्था-स्थापन का कार्य किया। राज्य की आर्थिक स्थिति भी उसने सुधारी। इसके बाद उसने मध्य प्रदेश के जंगली सरदारों को अपने वश में कर उम्मादूर के विद्रोही राजा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। शिवसुन्दरम और सेरिंगपट्टम के सुदृढ़ किलों पर उसने आधिपत्य जमाया और १५१३ में उदयगिरि (नेल्लोर ज़िला) पर चढ़ाई कर उसे धूल में मिला दिया। फिर रायकृष्णदेव ने कोन्दविद के पहाड़ी दुर्ग पर, जो उड़ीसा के राजा के अधिकार में था, चढ़ाई कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। उड़ीसा के राजा ने पूर्वी तट के समूचे प्रदेश पर १४५४ से अधिकार कर रखा था। यहां से आगे बढ़ कर उसने कोन्दविद पर चढ़ाई की और तीन मास के घेरे के बाद आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। इसके बाद शीघ्र ही संधि हो गई और कृष्णदेव राय ने उड़ीसा की राजकुमारी से विवाह कर लिया। इस प्रकार समूचे पूर्वी प्रदेश पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। पश्चिम में उसने साजसेह तक विजय प्राप्त की। किन्तु उसकी सबसे

बड़ी उपलब्धि रायचूर और मुकदल के किलों पर, जो मुद्दत से संघर्ष की जड़ बने हुए थे, अधिकार करना था।

रायचूर का युद्ध (१५२०)

ग्यारह भागों में विभाजित दस लाख सैनिकों के साथ कृष्णदेव राय ने मई, १५२० में रायचूर पर चढ़ाई की। बीजापुर के सुलतान आदिलशाह ने भी भारी सेना के साथ नदी को पार कर रायचूर से नौ मील दूर पड़ाव डाल दिया। हिन्दुओं की आगे बढ़ती हुई सेना को पहली मुठ भेड़ में मुसलमानों ने तितर-बितर कर दिया। कृष्णदेव राय ने अपनी शक्ति को बटोर कर शेष सैनिकों को दृढ़ता और साहस के साथ आगे बढ़ने का आदेश दिया। वह खुद भी साहसी व्यक्ति था। उसके साहसी व्यक्तित्व ने सैनिकों को फिर से जूझने के लिए तैयार कर दिया और अन्त में मुसलमान सैनिकों को मुँह की खानी पड़ी। इस प्रकार रायचूर पर कृष्णदेव राय का आधिपत्य हो गया। इस सफलता का बहुत कुछ श्रेय पुर्तगीज सैनिकों की सहायता को भी था जिन्होंने रायचूर की पत्थर की दीवारों को बेधने में सफलता प्राप्त की थी और अपनी हस्ती बन्दूकों से दीवार के रक्षकों को चुन-चुन कर मारा था। अन्त में कृष्णदेवराय ने बीजापुर की भूमि पर पाँव रखा और गुल बर्ग के किले को धूल में मिला दिया।

रायचूर के इस युद्ध का व्यापक प्रभाव पड़ा। आदिलशाह का प्रभाव और प्रतिष्ठा इस युद्ध के परिणाम स्वरूप इतनी क्षीण हो गई कि दक्षिण में अपने पाँव फैलाने की कल्पना तक करना उसके लिए कठिन हो गया। विजय के स्वप्न देखना छोड़ उसने अन्य मुसलमान शासकों के साथ अपने सम्बंधों को दृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। परिणामतः दक्खिन के मुसलमान शासकों का वह गुट्ट बना जो अन्त में साम्राज्य के अन्त का कारण सिद्ध हुआ। विजय के मद में हिन्दू इतने दम्भी और अहम्मन्य हो गए कि उनके पाँव जमे न रह सके। अप्रत्यक्ष रूप से इसका असर पुर्तगीज़ों पर भी पड़ा जो प्रमुखतः विजय नगर से अपने व्यापार द्वारा धन कमाते थे। दक्खिन के सुलतानों से उनकी कभी पटरी नहीं बैठ सकी। विजयनगर के पतन के साथ-साथ पुर्तगीज़ों का प्रभाव और शक्ति क्षीण होने लगी।

कृष्णदेव का चरित्र

सम्पूर्ण दक्षिणी भारत पर कृष्णदेव राय का सीधा प्रभुत्व था। मद्रास प्रेज़ीडेन्सी के साथ-साथ मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन की रियासतें भी इसमें सम्मिलित थीं। पुर्तगीज़ इतिहास-लेखक पाए ने इस महान् और शक्तिशाली शासक का यह शब्द-चित्र खींचा है—

"राय का कद मियाना था, रंग उजला, आकृति भली और बदन इकहरा न होकर कुछ दोहरापन लिए हुए ....उसका रौब अत्यधिक था और जहाँ तक सम्भव हो सकता है वह एक पूर्ण राजा था। स्वभाव का प्रसन्न और खुश रहने वाला था। विदेशियों का आदर करने में प्रयत्नशील........एक महान् शासक, न्यायप्रिय, किन्तु कभी-कभी आकस्मिक क्रोध और आवेश में भी वह जाता था...।"

इस शब्द-चित्र में हम यह और जोड़ सकते हैं कि वह संस्कृत और तेलगू साहित्य का प्रेमी था। उसके दरबार को अष्ट-दिग्गज आठ यशस्वी कवि गण सुशोभित करते थे जिनमें मनुचरित का रचयिता अलसानी पेदन्ना भी था। राय एक महान् निर्माता था। कितने ही मन्दिर को मुक्तहस्त हो जागीरें प्रदान की थीं। १५२६ में उसका स्वर्गवास हो गया।

मंत्री अप्पाजी

उसका प्रधान मंत्री सलूवा थिम्मा था जो उसके पिता और भाई के काल में भी काम कर चुका था। अपने पिता के समान कृष्ण देव उसका आदर करता था। वह प्रधान मंत्री कोन्दविडु का सूबेदार और योग्य सैनिक नेता था। अपने काल में और बाद में भी वह अप्पाजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ (अप्पा पिता का पर्याय-वाची भी है)।

राजा और उसके राज्य का वर्णन

पाए ने राजा का, उसके राज्य और प्रजा का, दरबार और शासन-व्यवस्था का, सामन्तों और राजमहल तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य कई पहलुओं का वर्णन किया है।* उसका वर्णन काफी

* आर-सेवेल—"ए फॉरगॉटन एम्पायर (१६२४ संस्करण)—

घनिष्ट आँखों-देखा है। उससे पता चलता है कि शासन व्यवस्थित ढंग से होता था और नगर की आबादी भरी-पुरी तथा सम्पन्न थी। नूनिज़ का विवरण ऐतिहासिक अधिक और वर्णनात्मक कम है। रायचूर पर कृष्णदेव के आक्रमण और उसकी छावनी का उसने सविस्तर वर्णन किया है। राय की मृत्यु के कुछ काल बाद उसने अपना वर्णन लिखा था। राय ने अपनी राजधानी को बहुत सुन्दर बना दिया था। विट्ठल स्वामी और हज़ारा राय स्वामी के सुन्दर मन्दिर उसी ने बनवाए थे। नागलपुर का नया नगर (आज का होज़ पीठ) भी उसी ने बनवाया था।

अच्युत राय (१५२९-४२)

योद्धा-राजा कृष्णदेव राय के बाद उसका एक भाई अच्युत राय सिंहासन पर बैठा (१५२९—४२)। उसके शासन के प्रारम्भ में ही बीजापुर के आदिलशाह ने रायचूर और मुकदल के किलों पर, जिनके लिए कृष्णदेव राय ने अपनी जानतक की बाज़ी लगा दी थी, फिर से अधिकार कर लिया। अच्युत राय तेज़ स्वभाव का आदमी था और शीघ्र ही अपने श्रेष्ठ मित्रों को भी विमुख कर दिया। सेवेल ने लिखा है—"उसका व्यवहार और शासन करने का ढंग दक्षिण में हिन्दुओं के हित के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। आक्रमकों की बन आई, यद्यपि वह स्वयं अपने कार्यों का अन्तिम बुरा फल देखने के लिए जीवित नहीं रहा।"

नूनिज़ के अनुसार स्वयं राय के अनुरोध से आदिलशाह १५३६ के लगभग विजयनगर आया था। इससे पता चलता है कि राज्य में कितनी गहरी दलबन्दी थी कि स्वयं राजा को, अपनी सहायता के लिए एक ऐसे आदमी का सहारा लेना पड़ा जो उसका जानी दुश्मन था।

अच्युत राय को तिरुवाड़ी (आज का दक्षिण त्रावणकोर और तिनेवली) के विरुद्ध चढ़ाई करनी पड़ी थी* और वह त्रिवन्द्रम तक बढ़ आया था। इस चढ़ाई में नागम नायक के पुत्र विश्वनाथ नायक ने—जो मदुरा के नायक राजकुल का संस्थापक था—

'नैरेटिव आफ डौमिंगो पाइ, पृष्ठ २३६-९०,—"क्रानिकल आफ फेरानो नूनिज़, पृष्ठ २९१-३९५।

प्रमुख भाग लिया था। इसी काल में उड़ीसा के राजा ने कृष्णा के दक्षिण से आक्रमण कर दिया।

अच्युतराय मन्दिरों और ब्राह्मणों का बहुत बड़ा पोषक तथा वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसके राजकवि राजनाथ डिनदीमा ने पर्याप्त ऐतिहासिक महत्व का एक ग्रंथ अपने आश्रय-दाता के सम्बंध में लिखा है। इस ग्रंथ का नाम है अच्युतराय-अभ्युदयम। १५४२ में अच्युत की मृत्यु हो गई और उसके बाद, कुछ कठिनाइयों के पश्चात्, उसके भाई का पुत्र सदाशिव सिंहासन पर बैठा (१५४२-७०)।

सदाशिव राय और राम राय

सदाशिव राय केवल नाम का राजा था। वास्तविक सत्ता उसके मंत्री राम राय के हाथ में थी। उसके भाई तिरुमल और वेंकाद्रि भी राम राय का साथ देते थे। राम राय एक ऐसे परिवार से आया था जिसका राज्य से पुश्तैनी सम्बंध चला आता था। वह कृष्णदेव राय के एक मंत्री का पुत्र और साथ ही इस महान राजा का दामाद था। उसने सदाशिव को उसके विरोधियों से रक्षा की थी और राजमुकुट धारण करने में सहायता दी थी। इसके बाद उसने युवक राजा के रक्षक का स्थान ग्रहण कर लिया था। १५५० तक वह राजेश्वर रूप में शासन करता रहा और तत्पश्चात राजा को नियंत्रित कर स्वयं उसके समकक्ष स्थान ग्रहण कर लिया। १५६३ के बाद उसने यथार्थतः राजा की उपाधि धारण कर ली और दान-पत्रों में सदाशिव के नाम का उल्लेख तक बंद हो गया।

रामराय के शासन-काल में विजय नगर का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। इस हिन्दूराज्य के पतन का वास्तविक कारण यह था कि उसने दक्षिण की सल्तनतों की दूषित राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। १५४३ में आग्रही मंत्री रामराय ने बीजापुर के विरुद्ध अहमद नगर और गोलकुण्डा से गठबन्धन किया। दक्खिन में बीजापुर का विशेष प्रभाव था। बीजापुर का वज़ीर असद खां बहुत ही योग्य था और बीजापुर को बचाने में सफल हुआ। इसके बाद, १५५८ में, विजयनगर ने अपने पहले शत्रु

बीजापुर से अहमदनगर के विरुद्ध गठबन्धन किया। परिणामतः जो युद्ध हुआ, उसमें रामराय के सैनिकों के क्रूर कृत्यों का फरिश्ता ने निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

"अली आदिलशाह ने रामराय से सहायता माँगी थी। दोनों ने मिलकर हुसेन निजाम शाह के राज्य को बाँट लिया और इस हद तक नष्ट-भ्रष्ट कर दिया कि पुरेन्दह से जूनरे तक और अहमदनगर से दौलताबाद तक कहीं आबादी का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता था। विजयनगर के काफिरों ने, जो बहुत दिनों से ऐसे अवसर की खोज में थे, अपनी क्रूरता के प्रदर्शन में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने मुसलमान स्त्रियों की इज्जत लूटी, मस्जिदों को धूल में मिलाया और पाक कुरान तक को अपमानित करने से नहीं चूके।"*

रामराय के सैनिकों के क्रूर कृत्यों और स्वयं रामराय के अपने मुसलमान मित्र के प्रति दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर दक्खिन के मुसलमान शासकों ने अपना संयुक्त मोर्चा बना लिया और हिन्दुओं का नाश करने का बीड़ा उठाया।

तालिकोट का युद्ध (१५६५)

केवल बरार को छोड़ कर दक्खिन के सुलतानों की संयुक्त सेनाएँ सोमवार, २५ दिसम्बर, १५६४ ईसवी को कृष्णा के निकट स्थित तालिकोट के किले तक पहुँच गई। उनकी चढ़ाई की सूचना विजयनगर को शीघ्रता से मिल गई। विजयनगर पूरी तरह आश्वस्त था और रामराय ने शत्रु की गति-विधि के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। फिर भी राज्य के विभिन्न भागों से उसने विस्तृत सेना जमा की और अपने भाइयों, तिरुमल और वेंकाताद्रि, के साथ मोर्चे की ओर प्रस्थान किया। २३ जनवरी, १५६५ को शत्रु की सेनाओं से उसकी रक्षास तागदी में मुठभेड़ हुई। यह स्थान कृष्णा से कुछ मील दूर दक्षिण में स्थित था। यहाँ जम कर युद्ध हुआ। दोनों भाई, तिरुमल और वेंकताद्रि, सेना के दायें और बायें बाजुओं को संभाले थे। रामराय बीच के मोर्चे पर स्थित था। मुसल-

---

* फरिश्ता—डब्ल्यू ब्रिग्स-द्वारा अनुवादित (१८२९) खंड ३, पृष्ठ २०।

मानों के मोर्चे पर तीरन्दाजों की दृढ़ पंक्ति अपने पीछे शक्तिशाली गोलन्दाजों को छिपाए थी। जब आक्रमण शुरू हुआ तो तीरन्दाज़ पीछे हट गए और गोलन्दाजों ने घातक तोपें दागनी शुरू कर दीं। रामराय, जो अब वृद्ध हो गया था, स्वयं मोर्चे का निरीक्षण करता रहा। जब युद्ध ने व्यापक रूप धारण किया तो लगता था कि अब मुसलमानों को मुँह की खानी पड़ी। लेकिन हुआ वह जो अप्रत्याशित था—एक बड़े राज्य का भाग्य संकट में फँस गया। मरता क्या न करता की स्थिति में मुसलमान सैनिकों ने, गोलों की जगह, तोपों में तांबे के पैसे भर कर निकट से दागने शुरू किये। इसका भयानक असर पड़ा। एकाएक अहमद नगर के निज़ाम शाह का एक हाथी, युद्ध की हलचल से विक्षिप्त होकर, उसी ओर भाग खड़ा हुआ जिधर वृद्ध रामराय एक पालकी में बैठा युद्ध का निरीक्षण कर रहा था। इसके पूर्व कि अपनी रक्षा कर पाता, वह बन्दी बना लिया गया। उसकी रही-सही शक्ति ने उसका साथ छोड़ दिया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। प्रमुख की मृत्यु की घटना ने विजय नगर की सेनाओं को त्रस्त तथा पस्त कर दिया और भगदड़ मच गई।

विजय नगर का पतन

रामराय की मृत्यु के बाद जो कुछ हुआ, कुछ ही शब्दों में उसका वर्णन किया जा सकता है। पराजित हो जाने पर भी हिन्दुओं को आशा थी कि नगर सुरक्षित रह जाएगा। किन्तु तालिकोट से भागे हुये सैनिकों ने बताया कि मुसलमानों की सेना शीघ्र ही नगर के द्वार पर आ पहुँचेगी। यह सूचना पाते ही घनी आबादी वाले सुन्दर नगर में आतंक फैल गया। राजघराने के कायर लोगों ने, जितने हीरे-जवाहरात बटोर कर वे हाथियों पर ले जा सकते थे, बटोरे और भाग खड़े हुए। कठपुतली राजा सदाशिव को तिरुमल सुरक्षित रूप से दक्षिण की ओर ले गया। इस प्रकार नगर मुसलमानों की कृपा के भरोसे पर अरक्षित छोड़ दिया गया। मुसलमान सैनिक आए और उन्होंने निर्दोष लोगों का कत्लेआम कर डाला—स्त्री, पुरुष और बच्चे, किसी को नहीं छोड़ा। नगर का चिन्ह

मिटा दिया।* प्राचीन विजय नगर की कुछ गिरी-पड़ी इमारतों को छोड़ कर कुछ भी शेष नहीं रहा। इन गिरी-पड़ी इमारतों, खंडहरों में, आज जंगली जानवर बसते हैं।

युद्ध का प्रभाव

तालिकोट के युद्ध के राजनीतिक प्रभावों का अब हम संक्षेप में वर्णन करेंगे। सब से पहली बात तो यह कि इसने बड़े राज्य को चूरचूर कर दिया और मुसलमानों के आक्रमणों तथा विस्तार के लिए द्वार खोल दिया। दूसरे यह कि इस युद्ध के फलस्वरूप बीजापुर और गोलकुण्डा को अपना विस्तार करने का अवसर मिला। ध्वस्त राज्य के काफी बड़े-बड़े भागों को इन्होंने अपने राज में मिला लिया और इस प्रकार दक्षिण भारत में इनके पाँव फैल गए। तीसरे यह कि दूर स्थित सूबों के अधिपतियों में से अनेक ने अपने स्वतन्त्र राज्यों की घोषणा कर दी। इनमें सबसे महत्वपूर्ण मदुरा में नायकों का राज्य सिद्ध हुआ। चौथे इस युद्ध ने मैसूर में एक बड़े राज्य की नींव रख दी जो विजय नगर के खण्डहरों में से उत्पन्न हुआ। पाँचवें यह कि विजय नगर के पतन के साथ-साथ भारत में पुर्तगीज़ों की शक्ति का अन्त हो गया।†

---

*फादर हेरास ने अपने ग्रंथ "अराविदु डाइनैस्टी" में (१९२७) फरिश्ता के इस कथन का खण्डन किया है कि मुसलमानों ने नगर का चिन्ह तक मिटा दिया था। अपने समर्थन में फादर हेरास ने निम्न कारण दिये हैं—:

(१) मुसलमान सुलतान नगर में इस आशा से कि उनका आधिपत्य बना रहेगा ६ मास तक टिके रहे।

(२) मुसलमानों ने ईंटों की और विजय नगर की प्राचीन शैली से भिन्न शैली की अनेक इमारतें वहाँ बनवाईं।

क्या ही अच्छा हो अगर फादर हेरास की बात ठीक और फरिश्ता की गलत हो। किन्तु इतिहास ने चारों सुलतानों पर लूट और गारतगरी का जो दाग लगाया है, उसे दूर करने के लिये अधिक विश्वसनीय प्रमाणों की आवश्यकता है, क्योंकि वह क्रूरता साधारण नहीं थी जिसने तिरुमल और सदाशिव को अपनी प्यारी राजधानी को संकट के मुँह में छोड़ कर भागने के लिये बाध्य किया था।—देखिए हेरास कृत "दि अराविदु डाइनैस्टी," पृष्ठ २१८-३०।

†इस सम्बन्ध में कौटो नामक पुर्तगीज़ ने अपना मत प्रकट करते हुए

तिरुमल और सिंहासन पर तृतीय अनधिकार चेष्टा

रामराय के भाई तिरुमल ने कठपुतली राजा सदाशिव को पेनुकोन्ड में ले जाकर रखा था। वहाँ पहुँच कर खुद उसने सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया और रायों के अन्तिम राजकुल की स्थापना की। इसे हम सिंहासन पर तृतीय अनधिकार चेष्टा कह सकते हैं। सेवेल के अनुसार सदाशिव की तिरुमल ने हत्या कर दी थी। नये राजा तिरुमल को भी एक बार फिर मुसलमानों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इस आक्रमण को उसने सफल नहीं होने दिया और आक्रमकों को मार भगाया। तिरुमल सैनिक और योद्धा होने के साथ-साथ विद्वान भी था।*

श्री रंगा

तिरुमल के पश्चात उसका द्वितीय पुत्र श्री रङ्गा सिंहासन पर बैठा और उसके अन्य पुत्र, राम और वेंकट पति, क्रमशः सेरिंगपटम और मदुरा के अधिपति नियुक्त कर दिये गए। वेंकट पति का मुख्य स्थान चन्द्रगिरि में था। उसके शासन-काल में पेनुकोन्द को एक बार और गोलकुण्डा के सुलतान के मुहासिरे का सामना करना पड़ा। श्री रङ्गा को सुलतान ने बन्दी बना लिया और पेनु-

---

कहा है कि—"विजय नगर के विनाश ने भारत और हमारी शक्ति को बुरी तरह हिला दिया, क्योंकि इस राज्य से हमारा अधिकांश व्यापार होता था। पुर्तगीज यहाँ घोड़ों का व्यापार करते थे, मलमल, सैटिन और अन्य माल लाते थे और उसे बेच कर भारी मुनाफा कमाते थे। विजयनगर के विनाश से गोश्रा की चुङ्गी की आय में भी कमी हो गई और तबसे गोआ के निवासियों के जीवन का स्तर कम हो गया। कारण इसका स्पष्ट है। फारस और पुर्तगाल के लिए महीन कपड़े और वैजेज़ का व्यापार बहुत महत्व का था। विजय नगर के विनाश से वह भी क्षीण हो गया और स्वर्ण पगोडा का जो ५००,००० से अधिक संख्या में राज्य के पोतों में लद कर जाते थे, और जिनका मूल्य तब साढ़े सात टंगा था साढ़े ग्यारह हो गया। यही हाल दूसरी मुद्राओं का भी हुआ। सेवल द्वारा "ए फारगौटन एम्पायर", पृष्ठ २१० पर उद्धृत।

* डाक्टर एस० के० आयंगर लिखित 'सोर्सेज़ आफ विजयनगर हिस्ट्री"— का भूमिका देखिए।

कोषद का समूचा उत्तरी प्रदेश मुसलमानों के आधिपत्य में चला गया (१५७६-८०)। इस युद्ध का एक परिणाम यह हुआ कि द्रुत-गति से नाशोन्मुख राज्य को पुनः चन्द्रगिरि को राजधानी बनाना पड़ा।

वेंकटपति

१५८६ में श्री रङ्गा की मृत्यु हो गई। उसके बाद वेंकटपति सिंहासन पर बैठा और १५८६ से १६१४ तक शासन किया। चन्द्रगिरि उसकी राजधानी थी। उसके शासन ने राज्य का पतन होते देखा। जिसका जहाँ प्रभाव था, वह वहीं अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित करने लगा। मदुरा के अधिपति ने अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। सेरिंगपटम का भी प्रायः यही हाल था। मैसूर के एक सरदार वोदयर ने सेरिंगपटम पर आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया। वेंकटपति इतना शक्तिहीन था कि उसे न रोक सका और अन्त में उसे वोदयर के आधिपत्य को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन, यह सब होते हुए भी, दक्षिणी प्रान्तों पर वह अपना प्रभुत्व बनाए रखने में सफल हुआ।

श्री रंगा द्वितीय

१६१४ में वेंकटपति की मृत्यु के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र श्री रङ्गा द्वितीय सिंहासन पर बैठा। राज्य का ह्रास अब तक पूर्ण हो चुका था। दो दल उत्पन्न हो गए थे जो राज्य को अपने हाथ में रखना चाहते थे—एक राजभक्तों का, दूसरा राजद्रोहियों का। जग्गाराय नामक एक व्यक्ति राजद्रोहियों के दल का नेता था। उसने राजघराने के सभी व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। लेकिन, इस हत्याकाण्ड की पकड़ से, एक बच्चा बच गया, जिसे एक स्वामि-भक्त सरदार यचमा नायक ने सुरक्षित रूप से तञ्जौर पहुँचा दिया। तञ्जौर में रघुनाथ ने, जिस के हाथ शासन-सत्ता वास्तव में थी, राज घराने के बालक को न केवल संरक्षण प्रदान किया वरन् युद्ध के लिए जग्गाराय को ललकारा (तोपूर का युद्ध)। इस युद्ध में जग्गाराय मारा गया और अन्त में, राम द्वितीय नाम से, बालक को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया।*

---

* 'सोर्सेज़ आफ विजय नगर हिस्ट्री', पृष्ठ २१

इस अव्यवस्थित स्थिति का लाभ उठाने से मुसलमान नहीं चूके और उन्होंने राज्य के अपेक्षाकृत अधिक उत्तरी भागों को परेशान करना शुरू कर दिया। इसी काल में राजधानी को चन्द्रगिरि से बदल कर वेल्लोर ले जाना आवश्यक हो गया। यहाँ उस स्वामिभक्त सरदार का उल्लेख करना आवश्यक है जिसने राम द्वितीय की सहायता की थी। उसका नाम चेन्ना था। वह यचमा नायक का बहनोई था। चेन्ना के एक सौतेले भाई अमाप्पा ने मद्रास नगर बसाया था। यह नगर माइलापुर के पुर्तगीज़ों और पुलीकट के डचों को एक-दूसरे से अलग रखने के लिए उनके बीच में बनवाया गया था जिससे उनके निरन्तर संघर्ष की सम्भावना कम हो जाए।* इस नगर का नाम उसने अपने पिता के नाम पर चेन्नापटनम रखा था।

श्री रंगा

राम का उत्तराधिकारी श्री रङ्गा हुआ जिसके काल में मैसूर के चिक्कादेव राय ने (मृत्यु १७०४) प्राचीन विजयनगर राज्य का जो कुछ बच रहा था उसका अधिकांश अपने आधिपत्य में कर लिया। मैसूर की सफलताओं के बाद श्री रङ्गा का नाम इतिहास के पृष्ठोंसे लोप हो गया। श्री रङ्गा के एक चचेरे भाई कोदण्डराय ने मैसूर में स्थित हसन नामक स्थान पर मैसूर के राजा को पराजित किया। अठारहवीं शती में उसके वंशजों ने अनेगुण्डी की अपनी पुश्तैनी-जागीर को, मुगलों की कृपा से, फिर से प्राप्त कर लिया। १७४९ में मरहटों ने इस पर अधिकार कर लिया।

अन्तिम दिन

विजयनगर के राज्य को टुकड़े-टुकड़े करने में जिन लोगों ने भाग लिया, उनमें मरहटों का स्थान प्रमुख था। दक्षिण की ओर से होने वाले मुसलमानों के आक्रमणों का नेतृत्व उनका मरहटा सेनापति शाहजी कर रहा था। वह सुविख्यात शिवाजी का पिता था। "१६७३ तक शिवाजी ने समूचे कोंकण प्रदेश पर अधिकार कर लिया और अगले चार वर्ष में कुरनूल, गिंगी और वेल्लोर

---

* सोर्सेज़ आफ विजय नगर हिस्ट्री, पृष्ठ २१

में विजय नगर के रहे-सहे प्रभुत्व का भी अन्त कर दिया। शिवाजी के भाई एकोजी ने, १६७४ में ही, तञ्जौर पर अधिकार कर अपने राज्य की स्थापना कर दी थी। उसका शासन एक शती तक वहाँ चलता रहा।"*

शासन व्यवस्था

विजयनगर के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली काफी सामग्री उपलब्ध है जिसके आधार पर वहाँ के शासन-व्यवस्था का अच्छा वर्णन किया जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ में इस विषय पर अधिक लिखना सम्भव नहीं है। विजयनगर का बड़ा राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित था जो मुगल-काल की सरकारों के समान थे। डाक्टर स्मिथ के अनुसार राज्य के ज़िलों की संख्या २०० थी। इन प्रान्तों का शासन प्रान्तपतियों के आधीन होता था जो व्यवहारतः अपने इलाके के पूरे स्वामी होते थे। राज्य को वे एक निश्चित कर देते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सैनिक भी भेजने पड़ते थे। स्थानिक परम्परा के अनुसार न्याय-कार्य का संचालन किया जाता था और निवासियों को अपना जीवन बिताने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। ग्राम-पंचायतें पहले की तरह अब भी अपना काम करती थीं। राज्य की आय का प्रमुख आधार भूमि-कर था। नूनिज़ का यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है कि कृषकों को अपनी कुल पैदावार का नौ दसवाँ भाग राज्य को देना पड़ता था। लगान मुद्राओं के रूप में वसूल किया जाता था। माल या पैदावार के रूप में लगान देना वर्जित था, कम से कम हरिहर प्रथम के काल में वर्जित था। दण्ड-विधान कठोर नहीं था। किन्तु कुछ अपराधों का दण्ड बहुत ही कठोर, यहाँ तक कि बर्बरता से पूर्ण, होता था। मल्ल युद्ध का साधारण रिवाज था, किन्तु इसके लिए मन्त्रियों से विशेष रूप से अनुमति-पत्र लेना पड़ता था। विजय नगर के राजा मोर्चों के ढंग पर अपनी सेनाएँ रखते थे। उत्तरी सीमा पर महत्वाकांक्षी सुलतानों की वजह से यह आवश्यक भी था। वी० ए० स्मिथ का मत है कि उनकी सेना, एक संगठित शक्ति के रूप में, अपर्याप्त और दोषपूर्ण थी।

---

* सोर्सेज़ आफ विजय नगर हिस्ट्री, पृष्ठ २१।

साहित्य और कला

विजय नगर के राजा संस्कृत और तेलुगू साहित्य के बहुत बड़े पोषक तथा प्रेमी थे। स्वयं कृष्ण देवराय कविता करता था और उसे आंध्र का भोज कहा जाता था। तेलुगू साहित्य में उसका वही स्थान है जो संस्कृत साहित्य में भोज का था। उसका दरबार अष्ट-दिग्गजों से सुशोभित रहता था जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध अलासानी पेद्दन था। द्रविड़ साहित्य के प्रसंग में उसके सुन्दर मनुचरित का सार हम पहले ही दे चुके हैं। इस काल का दूसरा महान कवि नन्दी टिम्मन था। उसने 'पारिजात अपहरण' की रचना की थी जिसमें नारद ऋषि की सहायता से इन्द्र के उद्यान से कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के लिए पारिजात पुष्प लाने की कथा वर्णित है। एक विद्वान के अनुसार* व्यावहारिक हास्य में दक्ष सुप्रसिद्ध विदूषक तेनाली रामकृष्ण या केवल तेनाली रमण जैसा कि तामिल प्रेम से उसे कहते हैं, कृष्णदेव राय के अष्ट दिग्गजों में से एक था। एच कृष्ण शास्त्री के कथनानुसार वह वेंकट प्रथम के काल में भी जीवित था। इसके काफी काल बाद अप्पाय दीक्षित हुआ जो तामिल ब्राह्मण था। वह अपने काल का एक बहुत बड़ा दार्शनिक माना जाता है।

स्थापत्य कला

विजय नगर के राजाओं ने इमारतों के निर्माण में काफी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने अपनी एक विशिष्ट स्थापत्य शैली को विकसित किया। यह शैली काफी कठिन और कष्टसाध्य थी जिसे सफल बनाने में प्रतिभासम्पन्न मूर्तिकार और चित्रकारों ने योग दिया था। मदुरा की राजसी इमारतें जो आज भी मौजूद हैं, मदुरा के नायक राजाओं की शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे मूलतः, विजयनगर राज्य के अन्तर्गत मदुरा के वायसराय थे।†

दक्षिणी भारत के नायक

दक्षिण के नायकों का उल्लेख किये बिना विजयनगर के इतिहास को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विजयनगर राज्य के सम्पन्न काल में दूर स्थित प्रान्तों का शासन वाइसरायों के ज़िम्मे था जो

---

* कवली वेंकट राय स्वामी: बाओग्राफीज़ आफ दि दकन पोयेट्स, पृष्ठ ८८

† आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३११।

नायक कहलाते थे। अपने-अपने इलाके में ये नायक प्रायः पूर्ण सत्ता का उपयोग करते थे, यद्यपि समय-समय पर केन्द्रीय सत्ता के प्रति अपनी भक्ति की घोषणा भी वे करते रहते थे। किन्तु तालिकोट के भाग्य पलट देने वाले युद्ध के पश्चात् इन नायकों ने अपने इलाकों को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में परिणत कर लिया। इस दिशा में सबसे पहले मदुरा के तिरुमल नायक (१६२३-५९) ने कदम बढ़ाया और शीघ्र ही तञ्जोर, गिंगी और इक्केरी के नायकों ने भी उसका अनुसरण किया।*

गिंगी के नायक

विजयनगर राज्य के दिनों में गिंगी का स्थान महत्वपूर्ण था। सदाशिव राय (१५४२-६७) के काल में आस-पास के इलाकों के शासन-संचालन के लिए नियमित रूप से नायक भेजे जाते थे। एक तरह से अभेद्य दुर्ग का स्थान गिंगी ने प्राप्त कर लिया था। सदाशिव राय के काल में गिंगी के नायकों ने प्रभुत्व को अस्वीकार करने की दिशा में कोई चिन्ह नहीं प्रकट किया। किन्तु तालिकोट के पश्चात् उन्होंने, व्यवहारतः, जुवे को उतार फेंका, यद्यपि शाब्दिक रूप में वे अब भी पेनुकोण्ड की केन्द्रीय सत्ता को स्वीकार करते थे। वेंकट पति (१६१४) के शासन के बाद से उन्होंने यह भी बन्द कर दिया। इन नायकों में सबसे प्रमुख कृष्णप्पा था जिसका

---

* नायकों का इतिहास विजयनगर के ही नहीं, भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके सम्बन्ध में काफी सामग्री उपलब्ध है और इस सामग्री का परिमाण बढ़ता ही जा रहा है। श्री आर० सत्यनाथ अय्यर की पुस्तक 'दि नायकस आफ मदुरा' इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। मदुरा के नायकों के शासन के सम्बंध में श्रीरंगाचार्य के लेख भी बहुत उपयोगी हैं। हेरास के ग्रंथ 'दि अराविदु डाइनैस्टी' के सातवें और आठवें परिच्छेदों में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उसने इन परिच्छेदों में अब तक दुर्लभ सामग्री का उपयोग किया है। श्री सी० एस० श्री निवासा चार्य कृत 'हिस्ट्री आफ गिंगी' (१९१२) में गिंगी के अंधकाराकृत नायकों के शासन पर प्रकाश डाला गया है। 'साउथ कनड़ मैनुअल' में इकेरी के नायकों की उपलब्धियों का संक्षेप में परिचय दिया गया है।

उनका वर्णन एक यहूदी यात्री ने किया है। १६४० में राजा रंगा ने गिंगी पर चढ़ाई कर उसे अपने प्रभुत्व में करना चाहा। किन्तु मदुरा के तिरुमल ने, यह सोचकर कि गिंगी के बाद दूसरे नायकों के विरुद्ध इस तरह की कार्यवाही की जा सकती है, गोलकुण्डा के सुलतान से सहायता का अनुरोध किया। इस प्रकार गिंगी रंगा के आधिपत्य से बच गया। किन्तु यह वास्तव में बचाव सिद्ध नहीं हुआ और इसे गोलकुण्डा की महत्वाकांक्षा का शिकार होना पड़ा। गिंगीपर उसकी बहुत दिनों से दृष्टि थी। अब अवसर पाकर उसने गिंगी को अपने वश में कर लिया। इस संकट से बचने के लिए गिंगी ने गोलकुण्डा के प्रतिद्वन्दी सुलतान बीजापुर के सुलतान के सामने गुहार की। इस प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति का दृश्य प्रस्तुत हो गया। किन्तु दोनों मुसलमान सुलतान एक-दूसरे पर आक्रमण करने की मूर्खता में इस बार नहीं फंसे, वरन् उन्होंने हिन्दू नायकों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया। परिणामतः गिंगी पर बीजापुर के सुलतान का आधिपत्य हो गया और तञ्जौर तथा मदुरा के नायकों से उन्होंने नज़राना वसूल किया।

इक्केरी के नायक

इक्केरी के नायकों का उद्गम अंधकारावृत्त है। १५६० में मालाबार जाति के एक लिंगायत को सदाशिव राय से बरकूर और मंगलौर की जागीर प्राप्त हुई थी। वह सदाशिव नायक नाम से प्रसिद्ध हुआ। तालिकोट के युद्ध तक वह विजयनगर को नज़राना देता रहा। किन्तु इस युद्ध के बाद यहाँ के स्थानिक जैन सामन्तों ने सिर उठाना शुरू कर दिया। उन्हें इस बात से बहुत घृणा थी कि लिंगायत उन पर शासन करें, परिणामतः संघर्ष हुआ। नायकों ने जैनों की बुरी दशा कर दी—यहाँ तक कि उनके अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। इस प्रकार वेंकटप्पा नायक ने अपने को इक्केरी में स्थापित कर लिया। १६१८ तक इस राज्य की स्थिति दृढ़ हो गई। १६४६ में राजधानी बदल कर बेदनूर चली गई। यह दक्खिन में बीस मील दूर स्थित था। १६४६ में शिवप्पा नायक ने दक्खिनी कन्नड़ के दक्षिणी भाग को रौंद डाला। छोटे से राज्य में

अनेक नियमित किलों और गढ़ों का निर्माण कर नायकों ने अपनी स्थिति को और भी दृढ़ बना लिया। वेदनूर में नायकों का शासन काफी शक्ति शाली हो गया। एक इटालियन यात्री डेला वाल्ल ने वेदनूर-कुल के असाधारण रूप से दृढ़ और अच्छे शासन का वर्णन किया है। १७६० में मैसूर के हैदरअली ने इकेरी के नायकों को पराजित कर उनके प्रायः सभी गढ़ों पर अधिकार कर लिया।

तञ्जौर के नायक

तञ्जौर के नायकों के शासन की नींव सम्भवतः १५४१ में पड़ी थी * शिवप्पा नायक इसका संस्थापक था। अच्युतराय की पत्नी की बहन से उसने विवाह किया था। अच्युत राय से ही उसे स्त्री-धन के रूप में तञ्जौर की नायकदारी प्राप्त हुई थी। काफी दिनों तक उसने शासन किया। जनहित के अपने कामों के लिए वह बहुत प्रसिद्ध हुआ। तञ्जौर के दुर्ग के बाहर उसने एक बहुत बड़ा ताल बनवाया जिससे जनता को अच्छा पानी प्राप्त होता था। तञ्जौर का शिवगंगा नामक किला उसी का बनवाया हुआ है। कितने ही मन्दिरों को उसने विकसित रूप दिया। तिरुवन मलाई और वृद्धाचलम के मन्दिर उसकी देन हैं। सन्तों के जीवन-यापन के लिए उसने उन्हें भूमि दी थी। पुर्तगीज़ों को भी उसने प्रोत्साहन दिया। वे उसके काल में, काफी बड़ी संख्या में, नेगापटम में आकर बस गए थे।

उसके बाद उसका पुत्र अच्युत नायक (१५७७ ?) गद्दी पर बैठा। सुप्रसिद्ध गोविन्द दीक्षित उसका मंत्री था। वह विद्वान कन्नड़ी ब्राह्मण था। खुद अच्युत भी कला और साहित्य का उदार प्रेमी था। अच्युत के बाद उसके एक पुत्र रघुनाथ ने शासनभार सभाला। उसी के काल में तञ्जौर के नायकों ने विजयनगर के प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लिया था। तालिकोट के युद्ध के बाद तञ्जौर ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त करली, किन्तु नायकों का अधिकांश समय अपनी महत्वाकांक्षाओं

---

*देखिए हेरास—दि अराविदु डाइनैस्टी, पृष्ठ १७३।

की पूर्ति करने के लिए सैनिक दाव-पेंचों में बीतने लगा। इन दाव-पेंचों के फलस्वरूप ही बीजापुर के सुलतान का तञ्जौर की सीमा तक आना सम्भव हो गया था। सुलतान ने नायक को नज़राना तक देने के लिए बाध्य कर दिया। जो कसर रह गई उसे पड़ोसी मदुरा के नायकों के साथ निरन्तर संघर्ष ने पूरा कर दिया और १६७२ में तञ्जौर की नायकशाही का दुःखद अन्त हो गया। इसके बाद तञ्जौर मराठों के आधिपत्य में चला गया।

मदुरा के नायक

मदुरा के नायकों का शासन अधिक सम्पन्न और सफल रहा। विश्वनाथ नायक मदुरा का पहला शासक था। वह नागम नायक का पुत्र था जिसने, चन्द्रशेखर पाण्डव की मृत्यु के पश्चात्, अच्युत को मदुरा का वास्तविक शासक नियुक्त किया था।* भाग्य से विश्वनाथ को एक योग्य मन्त्री प्राप्त हुआ। अरिनाथ मुदालो उसका मंत्री था जिसने 'पोलिगर' का संघटन किया। इस व्यवस्था के अनुसार, समुचित शासन की दृष्टि से, मदुरा देश को अनेक पलैयमों' में विभाजित किया गया था। ये पलैयम सैनिक बन्दोबस्त में रहते थे और पलैयाकरण या पोलिगर जैसा कि वे बाद में प्रसिद्ध हुए—मदुरा के इन ७८ सैनिक गढ़ों की रक्षा के लिए जिम्मेदार थे।†

तिरुवदी (दक्षिणी त्रावणकोर) के राज्य को विश्वनाथ ने अपना करद राज्य बना लिया और तिनेवली नगर को सुधार कर अधिक विकसित किया। समूचा पाण्ड्य राज्य उसके स्वामित्व में था। चोल प्रदेश के कुछ भाग पर भी उसका अधिकार था। अपनी सामन्ती व्यवस्था से, व्यावहारिक रूप में, उसने अपनी कठिनाइयों को बहुत कुछ हल कर लिया था।

---

* हेरास—अराविदु डाइनेस्टी—पृष्ठ १३२। हेरास का मत है कि मदुरा नायकशाही की नींव अच्युत राय के अन्तिम वर्ष (१५४२-१५५८ ईसवी) में पड़ी थी। नेल्सन, सेवेल तथा अन्य इतिहासकारों ने भी इसी मत को माना है।

† हेरास, उपर्युक्त, पृष्ठ १३३।

इसके बाद कृष्णाअप्पा नायक (१५६४-७२) गद्दी पर बैठा और फिर वीरप्पा नायक ने शासन-भार संभाला (१५७२-६५)। इस प्रकार कुछ नायकों के बाद सुप्रसिद्ध तिरुमल नायक गद्दी पर बैठा (१६२३-५६)। उसके काल में मदुरा ने स्वतंत्र राज्य का रूप धारण कर लिया। तिरुमल का सेनापति रामाप्पया बहुत ही योग्य था। तिरुमल की मृत्यु के समय उसके राज्य में मदुरा के आज के ज़िले, रामनद, तिनेवली, कोयम्बटूर, सलेम, त्रिचनापली, पुदु कोट्टाई और त्रावणकोर के कुछ भाग सम्मिलित थे।*

अपनी राजधानी में शान्दार इमारतें बनवा कर तिरुमल अपना नाम और कीर्ति अमर कर गया है। इन इमारतों में से अधिकांश आज भी देखी जा सकती हैं। विदेशी यात्री जब कभी भारत आते हैं तो मदुरा की यात्रा करना नहीं भूलते। मदुरा की स्थापत्य-कला की अनेक विदेशी यात्रियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

रानी मंगाम्मल (१६८६-१७०६) का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। रंगा की मृत्यु के बाद उत्पन्न पुत्र कृष्णा मुन्तू वीरप्पा के रीजेण्ट के रूप में उसने शासन किया था। मंगाम्मल मुन्तू वीरप्पा की माता थी। वह बहुत ही जनप्रिय रानी थी। उसकी बनवाई हुई सड़कें, उद्यान, मन्दिर, ताल और चौलतरी आज भी उसकी याद दिलाती हैं। उसके शासनकाल में मदुरा ने वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली जो तिरुमल के काल में उसे प्राप्त थी। किन्तु यह सब होते हुए भी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ सिर उठाने लगी थीं। मुसलमानों की सत्ता दक्षिण में घुसती जा रही थी और मैसूर की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति नायक वंशों के लिए खतरा उत्पन्न कर रही थी। विश्वनाथ ने जिस पोलिगर-व्यवस्था को संघठित किया था, उसकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी थी और अब उसने बन्धन का रूप धारण कर लिया था। समुद्री बेड़े की उपेक्षा के फलस्वरूप देश का अधिकांश व्यापार डचों और पुर्तगीज़ों के हाथ में चला गया था और नोविली और बेस्ची जैसे सुप्रसिद्ध पादरियों के नेतृत्व में उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। उत्तराधिकार-सम्बंधी झगड़ों का जो सिलसिला शुरू हुआ उसने नायकों की प्रतिरोध-

---

*मदुरा गजेटियर, पृष्ठ ४७।

शक्ति को बहुत कुछ क्षीण कर दिया। रानी मीनाक्षी (१७३१-३६) के शासन-काल में ह्रास का यह क्रम पूरा हो गया और चन्दा साहब ने अपनी क्रूरता और धूर्तता से मीनाक्षी को बन्दी बना कर अपने को राज्य का शासक घोषित किया।*

*देखिए आर० सत्यनाथ एंगर की 'ए हिस्ट्री आफ़ दि मदुरा पृ० २५८ और मदुरा गज़ेटियर पृ० ५८।

दसवाँ परिच्छेद

राजपूत और अकबर के काल तक का उनका इतिहास—हिन्दू धर्म का पुनर्जागरण

१—राजपूत-राज्यों का राजनीतिक विभाजन

सुलतान महमूद गज़नी के आक्रमण के समय उत्तर भारत के सभी प्रमुख इलाके राजपूत राजाओं के अधिकार में थे। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के समय तक आक्रमकों ने भारत के प्रायः सभी श्रेष्ठ भागों पर अपना अधिकार कर लिया और राजपूतों की स्वतंत्र सत्ता का अवशेष केवल मध्यभारत के पठार और इसके पश्चिम में सिन्ध तक विस्तृत रेगिस्तानी प्रदेश में सीमित रह गया। * पहाड़ी और दुर्गम होने के कारण मेवात, बुंदेलखंड और बघेलखंड, जमुना की वादी से लगे हुए होने पर भी, मुसलमानों के जुवे के नीचे नहीं आ सके। इन प्रदेशों के राजपूत बहुधा विद्रोह के लिये तत्पर रहते थे। उनके दृढ़ दुर्ग—रणथम्भोर, ग्वालियर और कलंजर—पर अनेक बार मुसलमानों ने अधिकार किया और अनेक बार ये दुर्ग उनके हाथ से निकल गए। यमुना तक पहुँचने वाले पठार का उत्तरी छोर आंशिक रूप से सुरक्षित था। किन्तु पश्चिमी भाग पर सहज ही जयपुर और अजमेर की ओर से आक्रमण किया जा सकता था। दिल्ली के निकट होने के कारण जयपुर दिल्ली के प्रभाव में रहता था और अजमेर पर गोरी ने प्रारम्भ में ही अधिकार कर लिया था। मालवा भी पठार पर स्थित है और उत्तर-पश्चिमी दिशा को छोड़कर अन्य दिशाओं में पहाड़ियों से घिरा हुआ है। अतः इस पर उत्तर-पश्चिमी दिशा से आक्रमण किया जा सकता था और ऐसा ही हुआ। तेरहवीं शती में उस पर अधिकार कर लिया गया। मेवाड़ पर पूर्व की ओर से दिल्ली में चढ़ाई की जा

---

* एल्फिन्स्टन—हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया (पाँचवाँ संस्करण) पृष्ठ ४७६।

सकती थी, किन्तु अन्य दिशाओं में यह भी अरावली तथा दूसरी पहाड़ियों से जिनका सिलसिला उत्तर में गुजरात तक पहुँचता था, घिरा हुआ था। आक्रमणों से त्रस्त होने पर राजपूत अरावली की पहाड़ियों की शरण लेकर अपनी रक्षा करते थे।* आकस्मिक रूप से उठे हुए आबू पहाड़ से उत्तर पूर्व की ओर ये फैली हुई हैं और राजपूताना को दो भागों में विभाजित करती हैं। असम्बद्ध शृङ्खलाओं में लोप होती हुई ये पहाड़ियाँ अन्त में दिल्ली की ऐतिहासिक पहाड़ी शृङ्खला में मिल जाती हैं।

राजपूताना के दो भाग

अरावलीके उत्तर में मेवाड़ (चित्तौड़) अम्बर (जयपुर) कोटा और बूंदी की रियासतें स्थित हैं जिन्हें चम्बल और उसकी अन्य सहायक नदियाँ सींचती हैं। अजमेर पर्वतशृङ्खला के पार्श्व में ठीक उस जगह स्थित है जहाँ से शृङ्खला तेज़ी के साथ उत्तर की ओर नीची होना शुरू होती है। शृङ्खला के पश्चिम में अर्द्ध राजपूताना का बड़ा भाग स्थित है जिसमें मारवाड़ (जोधपुर) जैसलमेर और बीकानेर की रियासतें सम्मिलित हैं। इस प्रदेश में केवल लूनी नामक नमक की नदी बहती है जो दक्षिण की ओर बहती हुई कचकेरण तक जाती है और लूनी तथा सिन्धु के बीच के रेगिस्तानी प्रदेश में परिवर्तित हो जाती है। यह रेगिस्तानी प्रदेश मरुस्थली या मरुधर कहलाता है। इस प्रदेश के छुट पुट उपजाऊ खंडो के बीच-बीच में रेगिस्तानी भूमि मिलती है जो पश्चिम में सिन्धु की ओर से होने वाले आक्रमण में इस प्रदेश की रक्षा करती है। सुदूर पश्चिम में अनेक छोटे रजवाड़े स्थित हैं—जैसे अमरकोट। ये भी मुसलमानों की पहुँच से बाहर थे। कभी-कभी राजपूत हिमालय की ढलाई के सुरक्षित स्थलों में शरण लेते थे और इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता को बहुत दिनों तक कायम रखने

---

*जी. फेरिंटग—फ़्राम दि लैंड आफ प्रिन्सेज, सर जी० बर्डवुड लिखित भूमिका ग्यारहवाँ पृष्ठ। इस सम्बध में कर्नल जे टाड लिखित एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ राजस्थान (पाप्युलर संस्करण) खण्ड १, पृष्ठ ८ भी देखिए।

में सफलता प्राप्त की। मुसलमानों का दिल्ली से अजमेर तक का आक्रमण-पथ तेज़ी के साथ मालवा से गुजरात तक फैल गया और इस पथ के दोनों ओर जो राज्य स्थित थे उन्हें बहुधा आक्रमणों और नज़रानों के दबाव को सहना पड़ा। गोंडवाने का प्रदेश मुसलमानों के आक्रमण और आधिपत्य से अधिकांशतः मुक्त रहा।

राजपूतों की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था, उनकी जातिबद्ध सामन्ती भावना, उनका आभिजात्य और शौर्य की कल्पना और उनकी कमज़ोरियाँ—इन सब पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं *

[२]

प्रमुख राज्यों का पतन

दिल्ली और कन्नौज में मुहम्मद गोरी के सम्मुख राजपूतों के शौर्य का अन्त होने के पश्चात् मुसलमानों का दिल्ली और अजमेर में दृढ़ता के साथ प्रभुत्व स्थापित हो गया। मुसलमानों के साथ संघर्ष में श्रेष्ठतम राजपूत वीर—जिनमें चित्तौड़ के समरसिंह भी थे—शून्य को प्राप्त हो गए। युद्ध में प्रदर्शित साहस से अनुप्राणित होकर चन्द बरदाई ने राजपूत जाति की वीरता की अमर गाथा के गुण गाए। दोआब में राजपूतों के छितरे हुए अवशेषों ने अरावली की पहाड़ियों में जाकर शरण ली या लूनी और सिन्धु के मध्य में स्थित मरुस्थली में बस गए। जयचन्द के पोते ने, राजपूत चारणों के अनुसार, मेवाड़ में वहाँ के प्राचीन निवासियों को अपदस्थ कर जोधपुर राज्य की नींव डाली। उसके वंश की एक नयी शाखा ने, पन्द्रहवीं शती में बीकानेर में अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और मरुस्थली के अतिरिक्त भाग पर अधिकार कर लिया। राठौर राजपूतों का एक दल दोआब में ही रह कर जब-तब मुसलमानों का प्रतिरोध करता रहा। कन्नौज में महोबा के राजपूतों की आठ पीढ़ियों तक के शासन का वर्णन मिलता है। शेरशाह सूर के काल तक जोधपुर के राठौर मुसलमानों के हस्तक्षेप से मुक्त रहे। शेरशाह ने मालदेव के विरुद्ध आक्रमण किया।

* देखिए हिन्दू भारत, भाग प्रथम, परिच्छेद बारहवाँ।

उसने बीकानेर, जैसलमेर और अम्बर पर अधिकार कर अपने राज्य को विस्तृत बना लिया।* मालदेव अकबर के शासन के प्रारम्भ तक जीवित रहा और सम्भवतः शेरशाह के आक्रमण की क्षतिपूर्ति कर ली।

जैसलमेर के भाटिया

मरुस्थली के पश्चिम में, सिन्धु से कुछ दूर जैसलमेर के भाटिया बस गए थे। ये अपने को द्वारका के कृष्ण का वंशज बतलाते थे। सम्भवतः आठवीं शती में उन्होंने अपने इस राज्य की स्थापना की थी और ११५६ में जैसलमेर नगर को बसाया था। अकबर के काल तक उन्हें मुसलमानों से कोई वास्ता नहीं पड़ा, सिवा इसके कि अलाउद्दीन खिलजी ने उनके नगर के विरुद्ध एक बार सफल सैनिक कार्यवाही की थी। संकटापन्न दुर्ग में राजपूत स्त्रियों ने सामूहिक रूप से जौहर का पालन किया और जितने राजपूत थे वे सब, अन्तिम इकाई तक, युद्ध में बलिदान हुए। युद्ध के बाद स्वयं अलाउद्दीन ने एक युवक भाटिया राजकुमार को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। तब से जैसलमेर के दुर्ग पर भाटियों पताका बराबर फहराती रही।

जयपुर के कछवाहा

जयपुर का राजपूत रियासतों में महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के महाराजा अपने को रामचन्द्र जी के पुत्र कुश के वंशज बतलाते हैं। वे कछवाहा राजपूतों के प्रमुख हैं। कछवाहा राजपूतों के प्रारम्भिक इतिहास का पता नहीं चलता। दसवीं शती में ग्वालियर और बरबर के दृढ़ दुर्ग इनके आधिपत्य में थे। बारहवीं

---

* मालदेव ने विशृङ्खल सामन्ती साम्राज्य को सम्बद्ध और केन्द्रीयसत्ता के अन्तर्गत संघटित करने में सफलता प्राप्त की थी। राज-चारण के शब्दों में उसने अपनी विजित भूमि में सर्वत्र राठौर-बीज बो दिया था। शेरशाह सूर द्वारा पराजित होने के बाद ही मारवाड़ का उत्थान हुआ और राजपूत राज्यों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। देखिए कानूनगो कृत 'शेरशाह' (१९२१), पृष्ठ २६४।

शती में इन्होंने अम्बर को अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद ६ शतियों तक अम्बर इनकी राजधानी बना रहा और यही इनके राज्य का भी नाम पड़ा। पहले यह राज्य दिल्ली के चौहान शासकों के अन्तर्गत था। यहाँ के एक राजा दूल्हाराय ने पृथ्वीराज की बहन से विवाह किया था। मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध में वह भी, पृथ्वीराज के साथ-साथ मारा गया।

चौदहवीं शती में इस कुल में उदयकरण हुआ। उसने काफी ख्याति और महत्व प्राप्त किया। मुगल सल्तनत की स्थापना होने के बाद अम्बर ने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। राजा बिहार मल (१५४८-१५७४) ने सबसे पहले अकबर के प्रति मान प्रदर्शित किया था। हुमायूँ ने उसे पाँच हज़ार सैनिकों का कमान प्रदान किया और आगे चलकर, अकबर से अपनी कन्या का विवाह किया। उसके उत्तराधिकारी भगवानदास और मानसिंह ने सल्तनत की दृष्टि में बहुत ऊँचा मान प्राप्त किया और जयसिंह प्रथम ने, जो मिरज़ा राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ, औरंगज़ेब को उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। जयसिंह सवाई (द्वितीय)* ने नयी राजधानी जयपुर का निर्माण किया। जयपुर, उज्जयिनी, दिल्ली तथा अन्य कई जगहों में उसने अनुवीक्षणशालाएँ बनवाईं। संस्कृत में उसने अंकगणित के ग्रन्थों का अनुवाद करवाया। अंग्रेज़ों के प्रभुत्व से पूर्व के अराजकतापूर्ण वातावरण में काफी क्षति उठाने के बाद इस राज्य ने फिर से सम्पन्नता और ख्याति प्राप्त कर ली।

हरौटी के राजपूत

हरौटी में बूँदी और कोटा के प्रदेश सम्मिलित हैं। यहाँ के राजपूत चौहानों की ही एक शाखा में से थे और चौदहवीं शती में हरौटी में आकर बस गए थे। कुछ अंशों में हर-राजपूत मेवाड़ राज्य के आश्रित थे। सोलहवीं शती के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध दुर्ग रणथम्भौर

---

* सवाई की उपाधि मुगल सम्राट ने प्रदान की थी—इसका अर्थ यह था कि औरों से वह सवाया था। अम्बर के राजा आज भी इस उपाधि को धारण करते हैं।

के अफगान अधिपति को अपदस्थ करने के बाद इन्होंने प्रमुख तथा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

मेवाड़ के सिसौदिया

राजपूतों में मेवाड़ के सिसौदिया सबसे गर्वीले हैं। ये अपने को रामचन्द्र का वंशज बताते हैं। मेवाड़ के महाराणा 'हिन्दुवा सूरज' का विरुद धारण करते हैं। श्रीराम और एक लिंग से वे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं—उन्हीं की ओर से वे शासन करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से बप्पा रावल ने, जैसा कि पहले कह चुके हैं, इस वंश की स्थापना की थी। भीलों की सहायता से बप्पा रावल ने मेवाड़ पर अरबों के आक्रमण को विफल किया था (लगभग ७३० ईसवी)। स्वयं बप्पा गोहा (गुहा) वंश में दसवाँ शासक माना जाता है। वलभी के विध्वंस के समय एक राजकुमारी बच कर निकल आई थी।* उसी के गर्भ से बप्पा रावल का जन्म हुआ था। वह प्रथम रावल था जिसे चित्तौड़ के मोरी राजा ने नियुक्त किया था। उसका गुहीला राजपूतों से सम्बन्ध था जो वलभी के राजवंश की ही एक शाखा थे। बाद में होने वाले शिवाजी की तरह वह कट्टर धार्मिक व्यक्ति था। वह शिव का भक्त था। शिवाजी की तरह भीलों से खूब मिलता-जुलता था। भीलों को सङ्घटित कर उन्हें अच्छा योद्धा बना दिया और उनसे अपना काम निकाला। वह "भारत का चार्ल्स मार्टेल बन गया। उसकी चट्टान के समान दृढ़ता के सामने, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, पूर्व की ओर से आने वाली अरब आक्रमणों की लहर छितरा कर रह गई।"† किन्तु सिंध से एक भी अरब मेवाड़ तक कभी नहीं पहुँचा। फलतः इस कथन की सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

---

* इस घटनाक्रम में, जो बप्पा का सम्बन्ध राजवंश से जोड़ा गया है, कुछ कठिनाई उपस्थित होती है। एक इतिहासकार ने कल्पना की है कि बप्पा ने संवत युग के १९१ में नहीं वरन् वलभी युग के ४०६ में जन्म लिया था।

†सी० वी० वैद्य—'हिस्ट्री आफ मेडीविअल इण्डिया', खण्ड दो, (राजपूत) पृष्ठ ७२।

बप्पा ने शीघ्र ही चित्तौड़ के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया और मेवाड़ में चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध गहलौत वंश की स्थापना की। संसार के इतिहास में यह वंश अद्वितीय है। बप्पा के उत्तराधिकारी साधारणतया मुसलमानों के आक्रमण से मुक्त रहे। इसका प्रमुख कारण उनके प्रदेश की दुर्गमता है। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से पहले तक इतिहास में उनका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता, सिवा इसके कि समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहन से विवाह किया था और मुहम्मद गोरी से युद्ध करते समय पृथ्वीराज के साथ वह भी मारा गया था—जैसा कि चन्दबरदाई ने वर्णन किया है।

अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण

तेरहवीं शती के अन्तिम चरण में जब चित्तौड़ का राजा अभी बालक था, दूर-दूर तक विख्यात पद्मिनी का पति भीमसिंह इस बालक राजा का संरक्षक था। पद्मिनी के लिए अलाउद्दीन के मोह, चित्तौड़ पर उसकी चढ़ाई, रानी का उसे अपनी चतुराई से विफल-मनोरथ करने की कहानी सभी जानते हैं। १३०३ में मुसलमानों के हाथ में चित्तौड़ के चले जाने से पूर्व राजपूतनियों के जौहर और राजपूतों के साहसपूर्ण प्रतिरोध की गाथा चारणों के गीतों में मिलती है। अलाउद्दीन ने किले पर अधिकार कर चित्तौड़ को धूल में मिला दिया और अपने पुत्र को यहाँ का अधिपति नियुक्त किया। किन्तु मेवाड़ में मुसलमानों का शासन इतनी अरक्षित अवस्था में रहा कि अन्त में सुलतान ने एक अन्य राजपूत राजकुमार को ही वहाँ का राजा नियुक्त किया। यह राजा अपने शासन के अन्त काल तक दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करता रहा। फिर सिसौदिया वंश के राजा हमीर ने चित्तौड़ को मुक्त कर उसकी पुरानी शक्ति को प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम किया। हमीर ने दीर्घ काल, १३६४ ईसवी तक, श्री सम्पन्न शासन का उपभोग किया। इसके कुछ काल बाद राणा कुम्भ (१४१६-६६) सिंहासन पर बैठा। वह बहुत ही योग्य और सक्षम था। उसके शासन काल में चित्तौड़ उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। चित्तौड़ इतना सम्पन्न पहले कभी नहीं हुआ था। अपने राज्य की सुरक्षा के

लिए उसने अनेक किलों का निर्माण किया जिनमें कुम्भलमेर का किला प्रमुख है। वह स्वयं कवि था और ललित कलाओं को उदार हृदय से प्रोत्साहन देता था। जयदेव के 'गीत गोविन्द' की उसने टीका की थी। सम्भवतः मीराबाई से प्रभावित होकर वह कृष्ण का भक्त बन गया और चित्तौड़ में कृष्ण का एक शानदार मन्दिर बनवाया। *

मालवा और गुजरात के सुलतानों की संयुक्त सेनाओं से महाराणा ने लोहा लिया और उन्हें मेवाड़ से निष्कासित करने में सफलता प्राप्त की। सुलतान को बन्दी बना लिया। मालवा के सुलतान पर अपनी विजय (१४४०) की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए संगमरमर का जयस्तम्भ बनवाया जो मेवाड़ की प्राचीन राजधानी में, चित्तौड़ के भाल पर तिलक की तरह, आज भी मौजूद है।† बाद में महाराणा ने मालवा के सुलतान को दिल्ली के शक्तिक्षीण सिंहासन पर अधिकार करने के प्रयत्न में मदद दी, किन्तु मालवा के सुलतान के आकस्मिक पलायन से यह प्रयत्न असफल रहा। कुम्भ का स्वप्न था कि वह अपने देश को मुसलमानों के जुवे से मुक्त करे और दिल्ली के पृथ्वीराज के हिन्दू साम्राज्य को फिर से जीवित कर स्थापित कर दे।

राणा सांगा

संग्राम सिंह, जो राणा सांगा के नाम से प्रसिद्ध है, १५०९ में मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा। उसे मेवाड़ के गौरव का कलस कहा जाता है।* हमीर के बाद इस वंश में उसका स्थान छठवाँ था।

---

* एक वर्णन के अनुसार मीराबाई महाराणा कुम्भ की साली थी जब कि टाड के अनुसार वह महाराणा की पत्नी थी। एक अन्य इतिहासकार मेकौलिफ़ के अनुसार वह सुप्रसिद्ध राणा संग्रामसिंह की पुत्रवधु थी। पश्चिम भारत में उसने कृष्ण की भक्ति की धारा प्रवाहित की थी।

† यह भाव जयस्तम्भ पर अंकित महाराणा कुम्भ के अभिलेख से लिया गया है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खंड ३, पृष्ठ ५२८ पर इस विजय के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है।

* टॉड—एनल्स आफ मेवाड़, पाप्युलर संस्करण का प्रथम खंड, पृष्ठ २४० देखिए।

मेवाड़ के अतिरिक्त उसके राज्य में मालवा का पूर्वी भाग चन्देरी तक सम्मिलित था और जयपुर, जोधपुर तथा अन्य राजपूत राज्य उसे अपना नेता मानते थे। मालवा के महमूद द्वितीय की सेनाओं को उसी ने हराया। मालवा के सुलतान का साथ गुजरात के सुलतान ने भी दिया। उसने इब्राहीम लोदी की कुख्याति से लाभ उठाया और पानीपत के युद्ध के ठीक अवसर पर अपना राजदूत बाबर के पास काबुल भेजा कि वह आक्रमण में मदद दे। बाबर हिन्द में आया और यहाँ रह कर अपना साम्राज्य संघटित करने लगा। राणा ने उसके विरुद्ध शक्तियों को बटोर कर मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया। जिन लोदी अमीरों को बाबर और मेवात के हसन खाँ ने—जो हिन्दू से मुसलमान बना था—अपदस्थ किया था, उन्होंने राणा का साथ दिया राणा भारी सेना के साथ आगरा की ओर बढ़ा और सीकरी के निकट कनवाहा में बाबर से उसकी मुठभेड़ हुई। आक्रमण की पहली रौ में बाबर के अग्रिम दस्तों को भारी क्षति के साथ पराजित होना पड़ा। अगर राणा इस अवसर से लाभ उठा पाता तो उसकी विजय निश्चित थी। किन्तु उसने बाबर को अपनी शक्तियों को फिर से संघटित करने का पर्याप्त अवसर प्रदान कर दिया। अन्तिम संघर्ष में बाबर के गोलन्दाज़ों ने राजपूत सैनिकों की रीढ़ तोड़ दी और बाबर ने पूर्ण विजय प्राप्त की। राणा कठिनता से मोर्चे से अपनी जान बचा कर भाग गया, हसन खाँ तथा अन्य कितने ही अमीर मारे गए।

बाबर से पराजित होने के कुछ ही मास बाद राणा सांगा की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के साथ-साथ हिन्दुस्तान में राजपूती साम्राज्य को पुनर्जीवित करने के सब स्वप्न विलीन हो गए।

सांगा के बाद मेवाड़ का ह्रास

सांगा के पश्चात मेवाड़ में जो अराजकता फैली उसने गुजरात के शक्तिशाली सुलतान बहादुरशाह को, जो मालवा पर पहले ही अधिकार कर चुका था, आक्रमण करने का अवसर प्रदान किया। बहादुरशाह ने राणा के राज्य पर आक्रमण ही नहीं किया

वरन् चितौड़ के चारों ओर अपना सैनिक घेरा डालने में भी सफलता प्राप्त की। संकट के इस काल में सांगा की युवा पत्नी रानी कर्णवती ने, जिसने सांगा की मृत्यु के बाद उदय सिंह को जन्म दिया था, शहनशाह हुमायूँ से अपना कंगन भेज कर सहायता माँगा।* हुमायूँ ने कंगन को स्वीकार कर लिया और चित्तौड़ की रक्षा के लिए रवाना हो गया, यद्यपि ऐसा करने में उसे एक सहधर्मी मुसलमान शासक के विरुद्ध खड़े होना पड़ा। इससे पहले कि वह घिरे हुये चित्तौड़ के किले तक पहुँचे, बहादुर शाह के इञ्जीनियरों और गोलन्दाज़ों ने किले को बारूद से उड़ाने की पूरी तैयारी कर ली थी। हुमायूँ के पहुँचने के पहले ही चित्तौड़ पर गुजरात के सुलतान का अधिकार हो गया, किन्तु यह सब होने पर भी कर्णवती अपनी जान देकर उदयसिंह को सुरक्षित स्थान पर भेजने में सफल हुई। उसके साथ-साथ अन्य सहस्रों राजपूतिनियों ने बारूद भरे तहखाने में आग लगा दिये जाने के कारण अपनी जान दे दी, मगर आत्मसमर्पण नहीं किया।

अकबर के काल में मेवाड़ की स्थिति

हुमायूँ मेवाड़ पहुँचा, किन्तु देर में। फिर भी उसने गुजरात की पस्त हिम्मत सेना का उनके देश की सीमा तक पीछा किया। बालक उदय सिंह, जो अब तक सुरक्षित था, १३५७ में सिंहासन पर बैठा। किन्तु उसमें वह साहस और शूर वीरता नहीं थी जो उसकी जाति का गुण थी। उससे तुरंत पूर्व के राणाओं के दोष भी उसके मुकाबले में गुण कहे जा सकते हैं—कम से कम उन्होंने

* राजपूतों में यह प्रथा आज तक प्रचलित है जो रक्षा-बन्धन कहलाती है। इस प्रथा के अनुसार कोई भी राजपूत स्त्री, विवाहित, विधवा या कुमारी हो, संकट पड़ने पर अपना कंगन भेज कर किसी एक को अपना राखी-बन्द-भाई बना लेती है। इस बन्धन को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति जान देकर भी उसकी रक्षा करता है। अगर नहीं करता तो उसे अपनी मान मर्यादा से हाथ धोना पड़ता है। सर वोल्सले हैग ने अपनी 'कैम्ब्रिज माडर्न हिस्ट्री', खण्ड ३, पृष्ठ ५३१ में कर्णावती के कंगन भेजने की घटना के सत्य होने में सन्देह प्रकट किया है। उसका मत है कि हुमायूँ ने जान बूझ कर उस समय तक बहादुर शाह के विरुद्ध आक्रमण नहीं किया जब तक वह राजपूतों से लड़ रहा था।

उस राष्ट्रीय भावना को सुरक्षित रखा जिसने मेवाड़ को दुर्भेद्य बना दिया था। उदयसिंह के शासन में यह भावना नष्ट हो गई। चुपचाप वह जोधपुर के मालदेव और शेरशाह के संकेतों पर चलने लगा—उनके हाथ की कठपुतली बन कर रह गया। अकबर के सिंहासन पर बैठने के समय मेवाड़ की यही स्थिति थी।

ग्वालियर की स्थिति

गजनी के सुल्तान महमूद के आक्रमण और सैनिक घेरे के समय ग्वालियर के किले पर कछवाहा राजपूतों का आधिपत्य था। सुलतान महमूद को यद्यपि अपना घेरा अन्त में उठा लेना पड़ा (१०२२), किन्तु आगे चलकर कुतुबउद्दीन ऐबक ने इस पर अधिकार कर लिया। हिन्दुओं ने उस पर, शीघ्र ही, फिर से अधिकार करने में सफलता प्राप्त की, किन्तु १२३२ में अलतमश ने आक्रमण कर उस पर फिर अधिकार कर लिया। इसके बाद तैमूर के आक्रमण तक, जब कि राजपूतों का उस पर फिर अधिकार हो गया, मुसलमानों का आधिपत्य बना रहा। पन्द्रहवीं शती में दिल्ली और मालवा के सुलतानों ने बहुधा इस पर आक्रमण किया और अन्त में सुलतान इब्राहीम लोदी के आधिपत्य में चला गया। ग्वालियर के अन्तिम शासक राजा मानसिंह (१४८६-१५१७) ने वह भव्य महल बनवाया जो ग्वालियर की शोभा है। वह संगीत का भी प्रेमी था। ग्वालियर ने ही अकबर के दरबार के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन को उत्पन्न किया था।

राजपूतों के छोटे राज्य

राजपूताना के बड़े राज्यों के अतिरिक्त अमरकोट ऐसे, जहाँ अकबर का जन्म हुआ था, अनेक छोटे राज्य भी थे जो मुसलमानों की पहुँच से बाहर थे। अरावली की पहाड़ियों में सिरोही और झालावाड़ ऐसे जागीरदार थे। देश के उत्तर-पूर्वी ढालवाँ प्रदेश में—अधिकांशतः बुन्देल खण्ड, चन्देरी, पन्ना, ओड़छा तथा अन्य कई राज्य थे जिन पर मुसलमानों ने आक्रमण कर उन्हें नज़राना देने के लिए बाध्य किया था। ये राज्य अधिकांशतः प्राचीन राजपूत वंशों से

सम्बन्ध रखते थे। हिमालय के निचले प्रदेश के कितने ही राज्य, जिनकी स्थापना मुसलमानों के आक्रमण से भागे हुए राजपूतों ने की थी, संकटापन्न स्थिति में अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखे हुए थे। मेदिनी राय के शासन में चन्देरी ने कुछ शक्ति और ख्याति प्राप्त कर ली। मेदिनीराय साहसिक राजपूत था। मालवा में वह इतना ऊपर उठा कि वहाँ के शासन पर अधिकार कर लिया। राणा सांगा का संरक्षण उसे प्राप्त था। १५२८ में बाबर ने चन्देरी पर आक्रमण किया। जितने भी राजपूत यहाँ थे सबके सब मारे गए, मगर जीते जी उन्होंने आत्म समर्पण नहीं किया।

गोंड राज्य

पश्चिम में बेरार और पूर्व में उड़ीसा के बीच का गोंडवाना का प्रदेश भी इस काल में मुसलमानों के प्रभुत्व से मुक्त रहा। चेरी के शासक, जैसा कि प्राप्त विवरण से पता चलता है, हिन्दू-गोंड थे। इस प्रदेश में चार गोंड राज्य कायम थे। एक उत्तर में जिसकी राजधानी गरबा थी। दो मध्य में जिनकी राजधानी देवगढ़ और खेदला थीं। एक दक्षिण में था जिसकी राजधानी चन्दा थी। उत्तर वाले राज्य का शासन रानी दुर्गावती (अपने नाबालिग पुत्र की ओर से) करती थी। उसने मालवा के सुलतान के आक्रमण का साहस के साथ प्रतिरोध किया। अकबर के काल में मुगलों के आक्रमण से भी उसने लोहा लिया। खदेला राज्य दक्षिण में बहमनी सुलतानों और उत्तर में मालवा के आक्रमणों के बीच पिस गया। चन्दा राज्य १७५१ तक साँस लेता रहा और अन्त में मराठों का उस पर आधिपत्य हो गया। चन्दा में एक के बाद एक कई अच्छे शासक हुए। प्रायः सभी गोंड राजाओं ने स्थापत्य को काफी प्रोत्साहन दिया। यद्यपि गोंडवाना की प्रजा पिछड़ी हुई रही, किन्तु राजा आगे बढ़े हुए थे और कला तथा साहित्य को उनसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

[३]

साहित्यिक तथा धार्मिक पुनर्जागरण

जैसा कि पहले एक परिच्छेद में लिख चुके हैं, हिन्दू संस्कृति के प्रत्यक्षतः कुंठित हो जाने पर भी मुसलमानों के शासन के

प्रारम्भिक काल में कुछ क्षेत्रों में हिन्दुस्तान ने काफी उन्नति और प्रगति का परिचय दिया। यह प्रगति दर्शन, न्याय और तर्क शास्त्र के क्षेत्र में विशेष रूप से दिखाई पड़ी। विक्रम शिला और नवद्वीप के विद्या केन्द्रों में तर्क-शास्त्र का पूरे अध्यवसाय के साथ अध्ययन किया जाता था। विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन की पद्धति पर प्राचीन न्याय ग्रन्थों के अनेक भाष्य रचे गए।* मिथिला ने इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की और न्याय के क्षेत्र में उसका अपना एक अलग स्कूल उत्पन्न हो गया। मिथिला के ग्रंथकारों में वाचस्पति मिश्र सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। वह पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ था और संस्कृत तथा मैथिल दोनों भाषाओं में लिखता था।

मिथिला और बंगाल में

मुसलमानों की विजयों के परिणाम स्वरूप होने वाले अनिवार्य विध्वंस और विनाश के चिन्हों से मिथिला सौभाग्यवश मुक्त रहा। १३२४ तक इस पर कोई आक्रमण नहीं हुआ और यहाँ के करनाट राजा निश्चित रूप से संस्कृत तथा स्मृति-ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहन देते रहे। मैथिल भाषा का विकास हुआ; और बंगाल में भी, बावजूद मुस्लिम शासन के, हिन्दू ज्ञान का अन्त नहीं हुआ। न्याय, स्मृति और भक्ति दर्शन खूब फूले-फले। रघुनाथ शिरोमणि और रघुनन्दन मिश्र इतने प्रसिद्ध हैं कि यहाँ उनका विस्तृत रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। वैष्णव मत के प्रचार के साथ-

---

* मैकडोनल के अनुसार विज्ञानेश्वर का सुप्रसिद्ध भाष्य 'मिताक्षर' लगभग ११०० ईसवी में लिखा गया था। बंगाल से बाहर वह सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। जीमूत वाहन एम० एम० चक्रवर्ती के अनुसार बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उसने 'दायभाग' की रचना की थी। हिन्दू कानून का (उत्तराधिकार और अलगाव के सम्बन्ध में) वह अधिकारी विद्वान माना जाता है। व्यवहार मयूख का रचयिता न्यायशास्त्री नीलकान्त (सोलहवीं शती) पश्चिम भारत में प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण भारत में तेरहवीं शती में रचा गया ग्रन्थ 'स्मृति चन्द्रिका' मूल्यवान माना जाता है। किन्तु ये दोनों महत्व में 'मिताक्षर' के बाद स्थान पाते हैं।

साथ बंगाल में चैतन्य ने पुनर्जागरण की धारा प्रवाहित की। इस काल में—१४८६ से १५२७—साहित्यिक उत्थान खूब फलीभूत हुआ।

विजयनगर में

पूर्णतः स्वतंत्र दक्षिण में, विशेष रूप से विजयनगर के हाथों की छत्रच्छाया में, हिन्दू ज्ञान-विज्ञान ने काफी उन्नति की। उस काल में जब विजय नगर के साम्राज्य की नींव पड़ी, माधव और सायण बन्धुओं के साथ पण्डितों के एक दल ने वेदों पर आधारित ग्रंथों और भाष्यों की रचना का कार्य तत्परता के साथ प्रारम्भ किया। माधवाचार्य ने, जो विद्यारण्य नाम से प्रसिद्ध है, 'वेदों के पथ का निर्माण किया।' 'सर्वदर्शन' नाम से भारतीय दर्शन पर उनका ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हुआ। उनके भाई सायण ने ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण तथा अन्य ग्रंथों के भाष्य लिखे। विजयनगर के दरबार के एक अन्य मन्त्री माधव मंत्रिन ने उपनिषदों के पथ को प्रशस्त करने में सफलता प्राप्त की और अपने इस कार्य के लिए काफी प्रसिद्ध हुआ।'

विजय नगर के प्रारम्भिक राय शैवों के कलामुख नामक सम्प्रदाय को प्रोत्साहित करते थे। देवराय द्वितीय ने लिंगायत गुरु को मान्यता प्रदान की। आगे चल कर श्री वैष्णव और माधव सम्प्रदाय फूले-फले। इनमें अन्य मतों के प्रति उदारता और सहनशीलता के भाव थे। आगे जैसे-जैसे विजयनगर का विकास होता गया, संस्कृत, तेलगू और कन्नड़ साहित्य पनपते गये—विशेष रूप से सालूवा और तुलुवा वंशों के काल में काफी साहित्यिक उन्नति हुई।

जैन मतावलम्बी

जैनों ने बिना किसी विघ्न बाधा के धार्मिक तथा लोकोपयोगी ग्रंथों की रचना की। उन्होंने अनेक भाष्य, और आचार ग्रन्थों तथा नीति सम्बन्धी ग्रंथों की रचना की। कई स्वतंत्र दर्शन सम्बन्धी तथा काव्य ग्रंथों की भी रचना की। करकाल के शासन-काल में तुलुवा में जैनधर्म काफी विकसित हुआ और विजयनगर साम्राज्य के कुछ भागों में दीर्घ काल तक फूलता-फलता रहा।

चारणों का वीर काव्य

संस्कृत साहित्य के साथ-साथ देशी भाषाओं के साहित्य को धार्मिक पुनर्जागरण से काफी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यह भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। चारणों की प्रारम्भिक कृतियाँ पृथ्वी राज की वीरता से ओतपूर्ण हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इन कवियों में चन्दबरदाई ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। वह पृथ्वी राज का मंत्री और राजकवि था। मुहम्मद गोरी को विरुद्ध युद्ध में वह भी पृथ्वीराज के साथ मारा गया। अपने प्रमुख काव्य पृथ्वीराज रासो में उसने अपने आश्रयदाता की जीवनी के साथ-साथ उस काल के इतिहास का भी वर्णन किया है। उपलब्ध ग्रंथों में इसे हम हिन्दी का प्रारम्भिक काव्य कह सकते हैं। 'महोबा खण्ड' (आल्हा) एक दूसरा काव्य है जिसमें आल्हा ऊदल के शौर्य का वर्णन है। उत्तर भारत में यह आज भी काफी प्रसिद्ध है। चारण कवियों की अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में मेवाड़ के राणाओं—विशेष कर हमीर जिसने दिल्ली के सुलतान से लोहा लिया था—के वीर कृत्यों का वर्णन है। मुसलमान कवि अमीर खुसरो ने भी हिन्दी में कुछ रचनाएँ की थीं। १३२५ में उसकी मृत्यु हुई।

भक्ति-आन्दोलन और वैष्णव पुनर्जागरण

उत्तर भारत में वैष्णव आन्दोलन की उत्पत्ति ने हिन्दी साहित्य का नई दिशा में विकास किया। इसलाम की हिंदूधर्म पर प्रतिक्रिया ने पुनर्जागरण की भावनाओं को जन्म दिया था। कर्म काण्ड प्रधान वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया भक्ति-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई। सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार यह आन्दोलन अपने प्रारम्भिकतम रूप में एकान्तिक धर्म (एक मन से एक ईश्वर की उपासना) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवद् गीता के सिद्धान्तों पर यह आधारित था। रामानुज के काल में इस आन्दोलन ने विशेष स्फूर्ति प्राप्त की। उत्तर भारत के कितने ही सुधारक संन्यासियों ने रामानुज से प्रेरणा प्राप्त की। इनमें रामानन्द का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

वैष्णव आन्दोलन को तीन धाराओं में बाँटा जा सकता है। एक धारा राम को लेकर चली, दूसरी कृष्ण को और तीसरी ने निर्गुण निराकार देव को अपना आधार बनाया। किन्तु इन तीनों में प्रेम और दया से पूर्ण निजी उपास्य देवता की भक्ति समान रूप से पाई जाती थी। भक्ति के द्वारा मुक्ति की कामना भी तीनों समान रूप से करते थे। भक्ति ने सर्वप्रिय जनधर्म का रूप धारण कर लिया था। यही कारण है जो इस आन्दोलन ने संस्कृत के स्थान पर देशज भाषाओं को अपना माध्यम बनाया और इन भाषाओं में साहित्य की रचना की।*

प्रतिभासम्पन्न संतों और सुधारकों की परम्परा चौदहवीं से सत्रहवीं शतियों तक चलती रही। इन सन्तों ने न केवल देशी भाषाओं के साहित्य को विकसित किया, वरन् जनता के मस्तिष्क को पंडितों-पुजारियों के ढोंग से भी मुक्त करने में सहायता दी। वर्ण व्यवस्था को कट्टर तथा अनुदार भावनाओं से मुक्त किया, निम्न श्रेणी के लोगों को आध्यात्मिक तथा सामाजिक महत्व से मुक्त किया, औदार्य तथा सहनशीलता की भावनाओं के प्रचार में योग दिया, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाया—यहाँ तक कि मुसलमानों से मेल-जोल बढ़ाने में भी योग दिया। लोगों को उन्होंने अधिक मानवीय बनने की शिक्षा दी, रीति-रिवाजों के आडम्बरों का महत्व बहुत कुछ कम करने में सफलता प्राप्त की, दान और उदारता की भावनाओं का प्रसार किया और बहु-देवता-पूजा की अति की रोक थाम की। इस प्रकार उन्होंने "देश को, विचार और कार्य दोनों दृष्टियों से, ऊँचा उठाने तथा उसे क्षमताशील बनाने में सफलता प्राप्त की।"†

रामानन्द

रामानन्द सम्भवतः चौदहवीं शती में हुए। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वे बाद में, १४०० से १४७० के मध्य हुए थे। वह चिर अनादि राम के उपासक थे। बनारस को उन्होंने अपने

---

* की (Keay) कृत 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर' पृष्ठ १६ देखिए।

† एम० जी० रानाडे –राइज़ आफ मराठा पावर, पृष्ठ १७२ देखिए।

आन्दोलन का प्रधान केन्द्र बनाया। वे मूर्ति पूजा और वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थे। रामानन्दी सम्प्रदाय की उन्होंने स्थापना की। इसके अतिरिक्त अन्य कई सम्प्रदायों ने प्रारम्भिक प्रेरणा उन्हीं से प्राप्त की थी। वह भक्ति आन्दोलन के महान सूत्रधार थे। सभी जीवों में ईश्वर का अंश है, हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए, जाति-पाँति भेद भाव नहीं रखने चाहिए, यह उनके उपदेशों का सार था। बिना किसी भेद-भाव के सभी श्रेणी के लोगों को वह अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लेते थे। उनके शिष्यों में जाट अछूत, मुसलमान, जुलाहे और स्त्रियाँ सभी थे। उनके अनुयायियों और उत्तराधिकारियों ने संस्कृत का प्रयोग एक दम त्याग दिया था। इससे देशी भाषाओं, विशेष कर हिन्दी, को बल मिला।

प्रारंभिक सुधारक और पुनर्जागरण

रामानन्द से पहले भी कई सुधारक हुए। इन्हीं में एक जैदेव थे जिसे भ्रमवश 'गीत गोविंद' का रचयिता जयदेव समझ लिया जाता है। मराठा प्रदेश में पराठरपुर के देवता विठोवा का भक्त नामदेव सम्भवतः चौदहवीं शती में हुआ था। उसने मराठी तथा हिन्दी में बहुत बड़ी संख्या में पद्य लिखे थे। उत्तर भारत और महाराष्ट्र दोनों जगह उसका बहुत प्रभाव था।

कबीर

रामानन्द के शिष्यों में महानतम कबीर था। जाति का वह मुसलमान जुलाहा था। उसने कबीर पंथी सम्प्रदाय को जन्म दिया। उसका काल १४४०-१५१८ माना जाता है। वह जन्मना मुसलमान था या नहीं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। किंतु उसके विचारों में मुसलमानी प्रभाव की छाया देखी जा सकती है। उसका प्रभाव, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गहरा पड़ा। मूर्तिपूजा की वह निन्दा करता था, पुनर्जन्म का विरोधी था और हिंदुओं की निरर्थक प्रथाओं तथा सामाजिक धार्मिक आडम्बरों की आलोचना करता था। दोनों ही सम्प्रदाय के लोग—पंडित भी और मौलवी भी—उसके विरुद्ध हो गए। मौलवियों के प्रभाव में आकर सुलतान सिकन्दर लोदी ने उसे बनारस से जलावतन कर

दिया। उसके रचे हुए पद्यों के अनेक संग्रह आज भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ पद्यों ने तो सिखों के आदि ग्रंथ और बीजक में भी स्थान कर लिया है। कबीर का हिंदी साहित्य के जनकों में स्थान है। हिन्दी के पद्य का तो उसे पिता माना जाता है। उसके पद्यों में एक अद्भुत आकर्षण और प्रतीकात्यकता पाई जाती है। कबीर ने स्वयं कोई पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। अपना सम्प्रदाय कायम करने की उसकी इच्छा भी नहीं थी। किंतु उसके अनुयायियों ने मिल कर शीघ्र ही एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। इस सम्प्रदाय के अवशेष आज भी कबीर के उपदेशों की स्मृति को ताज़ा बनाए हुए हैं।

गुरु नानक

सिख-धर्म के संस्थापक गुरु नानक (१४६९-१५३९) प्रारम्भिक काल में ही कबीर से प्रभावित हो गए थे, किन्तु कबीर की अपेक्षा वे हिन्दू धर्म के निकट थे। उनके उपदेशों में आचार-नीति को महत्व दिया गया है और जीवन की पवित्रता को मानव का उच्चतम आदर्श माना गया है। ऐसे गुणों पर उन्होंने विशेष ज़ोर दिया है जिन पर सब सहज ही अमल कर सकें—जैसे ईमानदारी, विश्वासपात्रता, न्याय, दान-दया, मद्यनिषेध आदि। पशुओं के मांस-भक्षण के वे विरुद्ध थे। सफाई पर काफी जोर देते थे। साधारण रूप से धर्माचरण और सबके लिए सुख शान्ति का उपदेश देते थे। उनका उद्देश्य किसी संकुचित सम्प्रदाय या एक मतीय संस्था को स्थापित करना नहीं था। उनका चलाया हुआ पंथ जिसका एक शान्तिप्रिय बिरादरी के रूप में विकास होना चाहिए था, किस प्रकार गुरुओं के नेतृत्व में सैनिक और राष्ट्रीय रूप में परिवर्तित हो गया, यह हम आगे चलकर बताएँगे।

मीरा बाई

रामानन्द का एक उल्लेखनीय अनुयामी रविदास चमार था। वह हिन्दुस्तान के एक प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय का संस्थापक था। राजपूताना की संत-कवियित्री मीराबाई का जन्म १४७० में हुआ। वह कृष्ण की भक्त थी और हिन्दी काव्यजगत में अत्यधिक प्रसिद्ध

है। कृष्ण उनके लिए राम का ही अवतार था—राम के कृष्ण रूप की वह उपासना करती थीं।

कृष्ण-भक्ति की ओर पहले भी लोगों का ध्यान गया था। किन्तु मीरा बाई ने उसमें जान डाल दी। उसकी कृष्णभक्ति की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। मीराबाई के जीवन का वृत्तान्त रहस्यों से आवृत्त है। उनका काव्य कृष्ण की गहरी भक्ति से ओत प्रोत है। पच्छिमी हिन्दी, ब्रज भाषा, का उन्होंने प्रयोग किया था। इसी तरह की रचनाएँ गुजराती में भी मिलती हैं जो उन्हीं की लिखी हुई बताई जाती हैं।

कृष्ण भक्ति की धारा

उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति के प्रसार का अधिकांश श्रेय एक दक्षिणी ब्राह्मण वल्लभाचार्य को है (१५३१ ईसवी)। ब्रज का गोवर्धन नामक स्थान कृष्णभक्ति का दृढ़ केन्द्र बन गया। वल्लभाचार्य के शिष्य पच्छिमी हिन्दी, में ब्रजभाषा में, अपनी रचनाएँ लिखते थे। वल्लभाचार्य इस मत के थे कि धार्मिक जीवन के मार्ग में विवाह अथवा परिवार बाधक नहीं हैं। वह स्वयं भी विवाहित थे। उन्होंने अपने मत का प्रचार बनारस तथा मथुरा में दोनों जगह के विद्वानों में किया। उनके अनुयायी आज पच्छिमी भारत, विशेष रूप से गुजरात में अनेक सम्प्रदायों के रूप में पाए जाते हैं। वल्लभाचार्य के उत्तराधिकारियों के काल में इस सम्प्रदाय में अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो गए जिनका वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है।

तुलसीदास

हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का स्थान सर्वोपरि है। वह कनौजिया ब्राह्मण थे। बनारस में अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होंने बिताया था। उनकी महान कृति 'रामचरित मानस' वाल्मीकि से भी श्रेष्ठ समझी जाती है। इस रचना का नैतिक मान बहुत ऊँचा है। अपने उपास्य की भक्ति और प्रेम उनका धर्म है। उनका उपास्य ऐसा है जो अपनी सन्तान को समान रूप से प्रेम करता है और राम के रूप में मानव जाति के सम्मुख अवतरित होता है। मध्यकालीन चमत्कारपूर्ण उद्यान में तुलसीदास सब से ऊँचे वृक्ष के समान है। उन्होंने रामभक्ति को अपने उच्चतम शिखर पर

पहुँचा दिया। भक्ति-आन्दोलन ने इस प्रकार बहुमूल्य देशी भाषाओं के साहित्य की व्यापक रचना में योग दिया। जनता को सुसंस्कृत बनाने में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। तुलसीदास ने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। किन्तु उनकी रामायण ने उत्तरी भारत में अधिकांश जनता के हृदय में वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की।

बंगाल में पुनर्जागरण और चैतन्य

चैतन्य के प्रभाव से बंगाल में भी भक्ति-आन्दोलन ने इसी भाँति ज़ोर पकड़ा। संस्कृत-अध्ययन के केन्द्र नवद्वीप नदिया में १४८५ में उनका जन्म हुआ था। भागवत पुराण से अनुप्राणित गहरी भक्ति से उन्होंने अपने अनुयायियों को ओतप्रोत कर दिया। संकीर्तन और भक्तिनृत्य उनके साधन थे। सिर से पाँव तक वह कृष्ण की भक्ति में डूबे हुए थे। एक शब्द में वह भक्त थे, संघटनकर्ता या रचयिता नहीं। किन्तु उनके अनुयायियों ने दूर-दूर तक उनके संदेश का प्रचार किया। बंगाल में आज वैष्णव सम्प्रदाय को जिस रूप में हम देखते हैं, उसका अधिकांश श्रेय चैतन्य के भक्ति और सेवा के भावों से पूर्ण उपदेशों को है। "आज का वृन्दावन बहुत कुछ बंगाली वैष्णवों की ही देन है। प्राचीन मथुरा का महत्व उसके सम्मुख फीका पड़ गया है।"

चैतन्य के अनुयायियों ने संस्कृत के अध्ययन की परम्परा में फिर से जान डाली जो आज तक नवद्वीप और वृन्दावन में जारी है।* संन्यासी जीवन के वे पक्षपाती थे। गोसाइयों के संघ को उन्होंने प्रतिष्ठित किया था। नारी-जाति को उनकी संस्था में ऊँचा स्थान प्राप्त था। संकीर्तन की प्रथा के वे जनक थे। स्वयं चैतन्य को बहुत से लोग कृष्ण का अवतार मानते हैं। उनके प्रमुख अनुयायी नित्यानन्द ने बंगाल में उनके सन्देश का व्यापक प्रचार किया। अपने गीतों, कविताओं और संस्कृत के अनुवादों से चैतन्य के अनुयायियों ने बंगाली साहित्य की श्रीवृद्धि की।

विद्यापति और चंडीदास जैसे कवियों ने कृष्ण सम्बन्धी

* जे० एच० सरकार—चैतन्याज़ पिलग्रिमेजेज़ एण्ड टीचिंग्स (१९१३) पृष्ठ १४

गीतों की रचना की। चैतन्य के युग के बाद बंगाल में, सोलहवीं शती में, शिव-दुर्गा-सम्बंधी साहित्य ने उसे आच्छादित कर लिया। कृष्ण-भक्ति की धारा उड़ीसा में अबाध गति से बहती रही जिसका बहुत कुछ श्रेय वहाँ के जगन्नाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा को है।

अन्य भागों में पुनर्जागरण

महाराष्ट्र में भी वैष्णव आन्दोलन का प्रसार हुआ। इस सम्बंध में संत तुकाराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १६०८ ईसवी में उन्होंने जन्म लिया। उनके अभंग कीर्तन ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उनकी रचनाओं का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है। महाराष्ट्र में भक्तिआन्दोलन तेरहवीं शती में ही शुरू हो गया था। मराठा लोगों को संयुक्त बनाने और उनमें आत्म चेतना भरने में इस आन्दोलन ने बहुत बड़ा काम किया। सच तो यह है कि शिवाजी के महान कृत्यों के लिए इस आन्दोलन ने ज़मीन तैयार कर दी थी।

प्रारम्भिक संतों में ज्ञानेश्वर का नाम प्रसिद्ध है। वह पण्ढर पुर के विठोबा के भक्त थे। महाराष्ट्र के दूसरे सन्तों में नामदेव भी उल्लेखनीय हैं। निम्नजाति (माहर) में उत्पन्न चोकमेला ने भी काफी ख्याति प्राप्त की।

शिव-दुर्गा-साहित्य ने बंगाल और दक्षिण भारत में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। परवर्ती काल के बंगाल के शैव लेखकों में मुकुन्द-राय चक्रवर्ती सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

—o—

परिशिष्ट

घटनानुक्रमणिका

ईसवी	
६२२	इसलाम की स्थापना—हिजरी।
६३२	मुहम्मद साहब की मृत्यु।
६४४	खलीफा उमर की मृत्यु।
७११	मुहम्मद बिन कासिम का हिन्द पर आक्रमण।
७१३	मुलतान पर आधिपत्य।
७५०—१२५८	अब्बासी खलीफाओं का शासन।
७५४—७७५	खलीफा मनसूर का शासन।
७८६—८०८	,, हारूंरशीद का शासन।
८७१	सिंध में खलीफा की सत्ता का अन्त— मुलतान और मन्सूराह में अरबों के स्थानिक राज्य
९११	समन वंश की स्थापना।
९६२	गज़नवी वंश का उत्थान।
९७७—१०३०	सुलतान महमूद गज़नी।
१००४	मुलतान पर उसका आधिपत्य।
१००५	आनन्दपाल की पराजय।
१००९	नगरकोट का विध्वंस।
१०१८—१०१९	मथुरा और कन्नौज पर आधिपत्य।
१०२०—१०२१	पंजाब पर आधिपत्य।
१०२१	कालंजर पर चढ़ाई।
१०२३—१०२४	सोमनाथ पर आक्रमण
१०३०	महमूद की मृत्यु।
१०३०—१३५१	सिंध में सुमराओं का शासन।

१०४३ पंजाब में हिन्दुओं की प्रतिक्रिया।
११२८—११५५ कश्मीर के जयसिंह का शासन।
११५१ गज़नी का जलाया जाना।
११५२ गोरी वंश का उत्थान।
११५६ जैसलमेर की स्थापना।
११७१—१२०६ मुहम्मद गोरी का शासन।
११७५ मुहम्मद गोरीका मुलतान और उच्छ पर आधिपत्य।
११७८ गुजरात पर आक्रमण और उसका पीछे हटना।
११८५—११८६ लाहौर पर गोरी का आधिपत्य।
११९१—११९२ पृथ्वीराय से उसका संघर्ष, दिल्ली पर आधिपत्य।
११९३ कन्नौज का पतन।
११९३—११९९ बिहार और बंगाल पर मुसलमानों की विजय।
११९४ अजमेर पर आधिपत्य।
११९४—१२०६ कुतुबउद्दीन—दिल्ली का वाइसराय।
१२०२ कुतुबउद्दीन का कालिंजर पर आधिपत्य।
१२०६—१२१० हिन्दू-मुस्लिम सल्तनत के संस्थापक कुतुबउद्दीन का शासन।
१२०६—१२९० दास वंश।
१२११—१२३५ अल्तमश का शासन।
१२१७ कुबैच की पराजय।
१२२५ रणथम्भोर पर आधिपत्य।
१२३१—१२३२ कुतुबमीनार का निर्माण।
१२३६—१२४० बेगम रज़िया का शासन।
१२४५ भारत पर मुगलों का आक्रमण।
१२४६—१२६६ सुलतान नासिरउद्दीन का शासन।
१२३६ बलबन का सुलतान बनना।
१२७९—१२८० तुगरील का विद्रोह।
१२८२—१३३१ बंगाल में बुगरा खाँ का शासन।
१२८५ बलबन खाँ के बड़े पुत्र मुहम्मद खाँ की मुगलों द्वारा हत्या।
१२८७ बलबन की मृत्यु।

१२९०—१३२० खिलजी शासन।
१२९०—१२९६ जलालउद्दीन का शासन।
१२९१ छाजू का विद्रोह।
१२९२ मालवा पर अलाउद्दीन का आक्रमण।
१२९६—१३०५ मंगोलों के आक्रमण।
१३०१ रणथम्भोर पर आधिपत्य।
१३०३ चित्तौड़ का ध्वंस।
१३०५ मालवा पर मुसलमानों की विजय।
१३०६—१३१२ दक्खिन और दखिनी भारत पर मलिक काफूर के आक्रमण।
१३१६ अलाउद्दीन की मृत्यु।
१३१६—१३२० मुबारक का शासन।
१३१७ देवगिरि पर मुबारक की चढ़ाई।
१३२०—१३५१ प्रारम्भिक तुगलक।
१३२० खुसरू खाँ सत्ताच्युत।
१३२० गयासउद्दीन तुगलक का सिंहासन पर बैठना।
१३२१—१३२३ वारंगल पर मुहम्मद जान का आक्रमण।
१३२५—१३५१ मुहम्मद बिन तुगलक का शासन।
१३२७ दिल्ली से दौलताबाद, राजधानी का स्थानान्तरण।
१३२९—१३३२ संकेत मुद्रा की योजना।
१३३१ बंगाल का विद्रोह।
१३३४—१३४२ इब्नबतूता का भारत-आगमन।
१३३६ हरिहर और बुक्का बंधुओं द्वारा विजयनगर की स्थापना।
१३३७—१३३८ फारस के शाहमीर का कश्मीर के सिंहासन पर अधिकार।
१३३८—१३३९ बंगाल का विद्रोह और उसका स्वतंत्र होना।
१३४०—१४०७ बंगाल में इलियास शाह के वंश का शासन।
१३४३ विजयनगर के राय हरिहर प्रथम की मृत्यु।
१३४६—१३४७ दक्खिन का विद्रोह।
१३४७ बहमनी राज्य की स्थापना।

१३४७—१३५८ अलाउद्दीन बहमनशाह का शासन।
१३५१—१३८८ फीरोज़ तुगलक का शासन।
१३५१ सिंध में सुमराओं की जगह सम्माहों का आधिपत्य।
१३५८—१३७५ मुहम्मदशाह प्रथम बहमनी का शासन।
१३६१ फीरोज़ तुगलक का कांगड़ा पर आधिपत्य।
१३७० मलिक राजी फारूकी का शासन।
१३७५—१३७७ मुजाहिदशाह बहमनी का शासन।
१३७७ मदुरा में मुस्लिम शासन का अन्त।
१३७९—१४०४ विजयनगर के हरिहर द्वितीय का शासन।
१३८६—१४१० बुतशिकन सिकन्दर का कश्मीर में शासन।
१३८८ फीरोज़शाह तुगलक की मृत्यु।
१३९०—१३९४ नासिरउद्दीन का शासन।
१३९४—१४१२ मुहम्मद तुगलक द्वितीय।
१३९४—१४७९ जौनपुर का शरकी राज्य।
१३९६ मुज़फ़्फरशाह के नेतृत्व में गुजरात का स्वतंत्र होना।
१३९७=१४२२ फीरोज़शाह बहमनी का शासन।
१३९८—१३९९ तैमूर का आक्रमण।
१३९९ खान देश की निश्चयात्मक स्वतंत्रता-प्राप्ति।
१४००—१४४० इब्राहीम शरकी का शासन।
१४००—१४७० (?) रामानन्दी सम्प्रदाय के संस्थापक रामानन्द।
१४०१—१४३६ मालवा में गोरियों का शासन।
१४०८—१४१० विजयनगर के देवराय प्रथम का शासन।
१४०७ राजा कंस द्वारा बंगाल के सिंहासन पर अधिकार।
१४११—१४३३ गुजरात की महत्ता के संस्थापक अहमदशाह का शासन।
१४१२ तुगलक वंश का अन्त।
१४१४—१४५१ दिल्ली में सैयदों का शासन।
१४१९—१४६९ सिसौदिया राज्य उन्नति के शिखर पर-राणा कुम्भ का शासन।
१४२० काश्मीर में जैनुल आब्दीन का सिंहासनारोहण।
१४२१—१४२२ निकोलो कौण्टी का विजयनगर में आगमन।

१४२१—१४४८ विजयनगर के देवराय द्वितीय का शासन।
१४२२—१४३५ अहमदशाह बहमनी का शासन।
१४३५—१४५७ अलाउद्दीन द्वितीय का शासन।
१४३६—१५३१ मालवा में खिलजी शासन।
१४४०—१५१८ कबीर का जीवन।
१४५१—१५२६ दिल्ली में लोदियों का शासन।
१४५१—१४८९ बहलोल लोदी का शासन।
१४५३ कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का आधिपत्य।
१४५७—१४६१ हुमायूं जालिम बहमनी का शासन।
१४५७—१५०३ आदिल खाँ द्वितीय फारुकी का शासन।
१४५८—१५११ मुहम्मद शाह बिगारा का शासन।
१४५९—१५७६ हुसेन शाह शरकी का शासन।
१४६१—१४६३ निज़ाम शाह बहमनी का शासन।
१४६३—१४८२ मुहम्मद शाह तृतीय बहमनी का शासन।
१४६९—१५३९ गुरु नानक का जीवन।
१४७० मीरा बाई का जन्म।
१४७६ जौनपुर पर दिल्ली का प्रभुत्व।
१४८२—१५१८ मुहम्मद तृतीय बहमनी का शासन।
१४८५—१४८६ विजयनगर के सिंहासन पर प्रथम अनधिकार चेष्टा।
१४८५ चैतन्य का जन्म।
१४८९—१५१७ सिकन्दर लोदी का शासन।
१४९० बीजापुर में आदिल शाह यूसुफ का शासन।
१४९३—१५२३ बंगाल में हुसेन शाह का शासन।
१४९३ अन्तिम शरकी सुलतान का सिकन्दर लोदी द्वारा पराजय।
१४९७—९९ वास्को-द-गामा की प्रथम भारत-यात्रा।
१५०२ ,, ,, ,, ,, द्वितीय ,, ,, ।
१५०४ आगरा की स्थापना।
१५०९—१५२९ विजयनगर के कृष्णदेव राय का शासन।
१५०९ मेवाड़ के सिंहासन पर संग्रामसिंह प्रतिष्ठित।
१५१७—१५२६ इब्राहीम लोदी का शासन।

मई, १५२० रायचूर का युद्ध।
१५२४ बाबर का भारत पर प्रथम आक्रमण।
१५२६—१५३० बाबर का हिन्दुस्तान में शासन।
१५२६—१५३७ गुजरात के बहादुरशाह का शासन।
१५२६ पानीपत का युद्ध।
१५२६ बहमनी राज्य का अन्तिम रूप से विच्छिन्न होना।
१५२७ सीकरी के निकट कनवाहा का युद्ध।
१५२९—१५४४ विजयनगर के अच्युत राय का शासन।
१५२२ घागरा का युद्ध।
१५३०—१५४० हुमायूं का शासन।
१५३१—१५३५ मालवा पर बहादुर शाह और, बाद में, हुमायूं की विजय।
१५३१ वल्लभाचार्य की मृत्यु।
१५३२ बंगाल पर शेरशाह का प्रभुत्व।
१५४०—१५४५ दिल्ली में शेरशाह का शासन।।
१५४१ तञ्जौर में नायकत्व की स्थापना।
१५४२—१५७० विजयनगर के सदाशिवराय का शासन।
लगभग १५२९—१५०६ मदुरा के नायकों का काल।
१५४७ हुमायूं का काबुल पर फिर अधिकार।
जुलाई १५५५ हुमायूं का साम्राज्य पर फिर अधिकार।
१५५६ हुमायूं की मृत्यु।
१५५६—१६०५ अकबर महान का शासन-काल।
नवम्बर १५२६ पानीपत का दूसरा युद्ध।
१५५८—१५६० ग्वालियर, अजमेर और जौनपुर पर अकबर की विजय।
१५६० अकबर का बैरमखां को पदच्युत करना।
१५६२ मालवा का अकबर द्वारा अपने राज्ज में मिलाया जाना—अकबर की प्रधानता
१५६३ सुलेमान खां द्वारा बंगाल में स्वतंत्र शासन की घोषणा।

१५६४ जज़िया कर का रद्द किया जाना।
१५६५ तालिकोट का युद्ध।
जून १५६७ राणा प्रतापसिंह अकबर द्वारा पराजित।
अक्टूबर १५६७ फरवरी १५६८—चित्तौड़ का घेरा।
१५६६ रणथम्भौर और कालंजर पर अधिकार।
१५७२—१५७३ गुजरात के विरुद्ध अकबर का पहला युद्ध।
१५७२ बंगाल में गृहकलह।
१५७२ गुजरात पर अकबर का आधिपत्य।
१५७५—१५७६ अकबर की बंगाल पर विजय।
१५७५ तिरुमल राय (विजयनगर) की मृत्यु।
१५७५—१५८६ श्रीरङ्ग का शासन।
१५८६—१६१४ वेंकट पति (विजय नगर) का शासन।

———